

# क्या धर्म ? क्या अधर्म ?

## सच्चिदानन्द की आराधना

वैसे तो 'धर्म' शब्द नाना अर्थों से व्यवहृत होता है पर दार्शनिक दृष्टि से धर्म का अर्थ स्वभाव ठहराता है। अग्नि का धर्म गर्भी है अर्थात् अग्नि का स्वभाव उष्णता है। हर एक वस्तु का एक धर्म होता है जिसे वह अपने जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त धारण किये रहती है। मछली का प्रकृति धर्म जल में रहना है, सिंह स्वभावतः माँसाहारी है। हर एक जीवित एवं निजीव पदार्थ एक धर्म को अपने अन्दर धारण किये हुए हैं। धातुएँ अपने-अपने स्वभाव धर्म के अनुसार ही काम करती हैं। धातु-विज्ञान के जानकार समझते हैं कि अमुक प्रकार का लोहा इतनी आग में गलता है और वह इतना मजबूत होता है, उसी के अनुसार वे सारी व्यवस्था बनाते हैं। यदि लोहा अपना धर्म छोड़ दे, कभी कम आग से गले कभी ज्यादा से, इसी प्रकार उसकी मजबूती का भी कुछ भरोसा न रहे तो निसंदेह लोहकारों का कार्य असम्भव हो जाय। नदियाँ कभी पूरब को बहें कभी पश्चिम को, अग्नि कभी गरम हो जाय कभी ठंडी तो आप सोचिये कि दुनिया कितनी अस्थिर हो जाय। परन्तु ऐसा नहीं होता, विश्वास का एक-एक परमाणु अपने नियम धर्म का पालन करने में लगा हुआ है, कोई तिल भर भी इधर से उधर नहीं हिलता। धर्म रहित कोई भी वस्तु इस विश्व में स्थिर नहीं रह सकती।

बहुत काल की खोज के उपरान्त मनुष्य का मूल धर्म मालूम कर लिया गया है। जन्म से लेकर मृत्यु तक सम्पूर्ण मनुष्य अपने मूलभूत धर्म का पालन करने में प्रवृत्त रहते हैं। आपको यह सुनकर कि कोई भी मनुष्य धर्म रहित नहीं है, आश्चर्य होता होगा। इसका कारण यह है कि आप मनुष्यकृत रीति-रिवाजों, मजहबों, फिरकों, प्रथाओं को धर्म नाम दे देते हैं, यह सब तो व्यवस्थाएँ हैं, जो वास्तविक धर्म से बहुत ऊपर की उथली वस्तुएँ हैं, आपको वास्तविकता का पता लगाने के लिए एक सत्य शोधक की भाँति बहुत गहरा उत्तरकर मनुष्य स्वभाव का अध्ययन करना होगा।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि धर्म का अर्थ स्वभाव है। स्वभाव मनुष्यकृत नहीं होता वरन् ईश्वर प्रदत्त होता है। जिस योनि में जैसी शिक्षा प्राप्त करनी होती है, उसकी मर्यादा चारों ओर से खिंची हुई होती है, जिससे नौसिखिए कुछ भूल न कर बैठें। स्कूल के छात्र खेल के घटणों में जब गोंद खेलते हैं तो अध्यापक उन्हें एक मर्यादित क्षेत्र बता देता है कि इस भूमि में खेलो। वैसे तो अपनी बुद्धि के अनुसार खेलने, हारने-जीतने में खिलाड़ी लोग स्वतंत्र हैं, अध्यापक उसमें हस्तक्षेप नहीं करता पर

क्षेत्र जरूर मर्यादित कर देता है। फील्ड छोड़कर सड़क पर फुटबाल उछालने की वहाँ व्यवस्था नहीं है। इसी प्रकार मनुष्य की कुछ स्वाभाविक मर्यादाएँ हैं, जिनके अन्दर वह भले-बुरे खेल खेलता है। यही स्वाभाविक मर्यादाएँ दार्शनिक दृष्टि से धर्म कहलाती हैं। धर्म के अन्तर्गत क्षेत्र में ही मनुष्य के सारे काम होते हैं, इसमें पाप-पुण्य क्या है? और किस प्रकार है? इसकी विवेचना तो हम अगले पृष्ठों में करेंगे। इस समय तो मूलभूत धर्म के बारे में ईश्वर दत्त स्वाभाविक मर्यादा के सम्बन्ध में चर्चा की जा रही है, जिसे जानकर यह निश्चय किया जा सके कि हमें यह मानव देह क्या शिक्षा प्राप्त करने के लिए मिली है?

मनुष्य क्या करने में लगा रहता है, इसका गहरा निरीक्षण करके आध्यात्मिक तत्त्ववेत्ताओं ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'सच्चिदानन्द' की उपासना में मानव प्राणी हर धड़ी लगा रहता है, एक पल के लिए भी इसे नहीं छोड़ता और न इसके अतिरिक्त और कुछ काम करता है, पाठक अधीर न हों कि सच्चिदानन्द की उपासना तो विरले ही करते हैं, यदि विरले ही करते तो वह बात स्वाभाविक धर्म न रह जाती, फिर उसे मनुष्यकृत मानना पड़ता है। अगली पंक्तियों में यही बताया जा रहा है कि किस प्रकार प्रत्येक मनुष्य सच्चिदानन्द की उपासना करता हुआ अपने धर्म कर्तव्य को पालन करने में लगा हुआ है।

सत् का अर्थ है, अस्तित्व, चित् का अर्थ-ज्ञान और आनन्द का अर्थ सुख है। अपने अस्तित्व की उन्नति में, अपने ज्ञान की वृद्धि में, अपने सुख को बढ़ाने में ही सब लोग लगे हुए हैं। मनोविज्ञान शास्त्र के फ्रांसीसी पण्डित सारेन्सस ने मानव प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए बताया है कि- (१) शरीर और मन का सुख प्राप्त करने, (२) आत्म-रक्षा, (३) अपने को सबके सामने प्रकट करने, (४) बड़प्पन पाने, (५) समूह इकट्ठा करने, (६) गुप्त विषयों को जानने, (७) विपरीत योनि से, (पुरुष स्त्री से, स्त्री पुरुष से) घनिष्ठता रखने, (८) साहस करने की इच्छाओं में प्रेरित होकर ही मनुष्य अनेक प्रकार के कार्य करता है। अर्थात् मनुष्य को जितने भी कार्य करते हुए देखते हैं, वे सब इन्हीं इच्छाओं के फल मात्र होते हैं। इन आठ वृत्ति का विभाजन हम इस प्रकार किये देते हैं:-

अस्तित्व-उन्नति के अन्तर्गत- (१) आत्म-रक्षा, (२) अपने को प्रकट करना (कीर्ति) (३) बड़प्पन प्राप्त करना।

ज्ञान वृद्धि के अन्तर्गत- (१) गुप्त विषयों का जानना, (२) समूह इकट्ठा करना।

आनन्द बढ़ाने के अन्तर्गत- (१) शरीर और मन सुख, (२) साहस, (३) विपरीत योनि से घनिष्ठता।

## ३.२ धर्म तत्त्व का दर्शन और मर्म

अब विचार कीजिए कि मनुष्य के समस्त कार्य इस सीमा में आ जाते हैं कि नहीं। हिंसक, दस्यु, आक्रमणकारियों से, आपत्ति से बचने के लिये लोग घर बनाते, बस्तियों में रहते, शस्त्र रखते, डरते, छिपते, भागते, वैद्यों, डॉक्टरों के पास जाते, राज्य का निर्माण करते, देवी-देवताओं की सहायता लेते, युद्ध करते तथा अन्यान्य ऐसे प्रयत्न करते हैं, जिससे आत्मरक्षा हो, अधिक दिन जियें, मृत्यु से दूर रहें। कीर्ति के लिए लोकप्रिय बनना, फैशन बनाना, विज्ञापन करना, अपना ढंग विशेष प्रकार का बनाना, भाषण देना, अपने विचार छापना, लोगों का ध्यान खींचने वाले शब्द अथवा प्रदर्शन करना आदि कार्य किये जाते हैं। गौरव के लिये नेता बनना, अपने संरक्षण में छोटे लोगों को लेना, ओहदा प्राप्त करना, सम्पत्तिवान, बलवान बनना, राज्य सम्पत्ति पाना, गुरु बनना, अपने को पदवीधारी, ईश्वरभक्त, धर्मप्रचारक प्रकट करना आदि कृत्य होते हैं। इस प्रकार आत्मरक्षा, कीर्ति और गौरव प्राप्त करके आत्म-विश्वास, आत्म-सन्तोष, आत्म-उन्नति का उद्योग किया जाता है।

विद्याध्ययन, सत्संग, स्वाध्याय, साधना, अन्वेषण, आविष्कार, खोज, परीक्षण, वाद-विवाद, यात्रा, समारोहों में सम्मिलित होना, नवीन वस्तुओं को देखना, इस त्रैणी के कार्य 'गुप्त विषयों की जानकारी' के लिए होते हैं। समाज में रहना, भित्र बढ़ाना, संगठन में बँधना, दल बनाना, कम्पनी खोलना, साझा करना आदि कार्यों के द्वारा मनुष्य दूसरों की योग्यताओं की जानकारी प्राप्त करना। एवं उनकी सामूहिक अनुभूतियों के आधार पर अपनी ज्ञान-चेतना में वृद्धि होने का लाभ उठाना चाहता है। इस प्रकार रहस्यान्वेषण को अपना प्रिय विषय बनाकर हम अल्पज्ञता से सर्वज्ञता की ओर बढ़ना चाहते हैं। अपने संसार के और अदृश्य विषयों के रहस्य से परिचित होने के लिए ज्ञान की तीव्र पिपासा को जीव अपने अन्दर धारण किये हुए हैं। शिक्षालय, योग साधनाएँ, प्रयोगशालाएँ, पुस्तकें, समाचार पत्र, रेडियो, मनुष्य की इसी महान मानसिक क्षुधा के निवारणार्थ-ज्ञानवृद्ध होने के निमित्त प्रयत्न कर रहे हैं।

स्वादिष्ट भोजन, शीतोष्ण निवारण के प्रयत्न, वस्त्र, कोमल बिस्तर, सवारी, सेवक आदि शरीर सुख के लिये तथा खेल, तमाशे, नाच-रंग, गीत, वाद्य आदि मनोरंजन के लिये होते हैं। त्याग, दान, अद्भुत कार्य, कष्टों का मुकाबला आदि, धीरता-वीरता के कार्य साहस प्रदर्शित करने के लिए करते हैं, पुरुषों का स्त्रियों के सम्बन्ध में और स्त्रियों का पुरुषों के सम्बन्ध में अनेक मार्गों से अधिक दिलचस्पी लेना भी सर्वत्र देखा जाता है, यह खिंचाव भी आनन्दायक समझा जाता है। शरीर सुस्थिर, दीर्घजीवी, आनन्दी एवं उन्नतिशील बनने की क्षमता वाला रहे और मनोरंजन से चित्त हल्का होकर ऊर्ध्वगति प्राप्ति करने की सामर्थ्य अपने अन्दर धारण किये रहे, इसलिये अन्तःचेतना स्वयमेव ऐसा प्रयत्न कर रही है कि शरीर और मन की प्रसन्नता नष्ट न होने पावे।

पाठक! सब ओर भली प्रकार की दृष्टि दौड़ाकर देख लें, सत् अस्तित्व की उन्नति, चित्-ज्ञान की वृद्धि, आनन्द-शरीर और मन की सुख-साधना में ही सब लोग प्रवृत्त मिलेंगे, कोई भी व्यक्ति इस कार्यक्रम से पृथक् सच्चिदानन्द की उपासना से विरक्त दिखाई न पड़ेगा। इसे जब हम गम्भीर दृष्टि से मनुष्य के स्वभाव-जन्य मूलभूत धर्म की खोज करते हैं, तो 'सच्चिदानन्द की उपासना' इसी तत्त्व को प्राप्त करते हैं।

## पाप-पुण्य का भेद

पिछले पृष्ठों पर बताया गया है कि हर एक व्यक्ति चाहे वह भले कर्म करता हो या बुरे निःसन्देह सच्चिदानन्द की प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर रहा है। मानव-जीवन की धारा इसी निश्चित दिशा में प्रवाहित हो रही है, उसका पलटना या बदलना किसी भी व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं क्योंकि वह ईश्वर प्रदत्त स्वाभाविक धर्म वृत्ति है। मनुष्य जन्म से ही उसे साथ लेकर पैदा होता है।

अब यह प्रश्न पैदा होता है कि जब सभी मनुष्य स्वाभाविक धर्म का पालन कर रहे हैं तो फिर पाप-पुण्य का, उचित-अनुचित का, भले-बुरे का भेद क्यों है? किन्हीं कार्यों को धर्म और किन्हीं को अधर्म क्यों कहा जाता है? पापी और पुण्यात्मा का भेद क्यों किया जाता है? इन प्रश्नों का तात्त्विक समाधान जानने के लिए हमें भले और बुरे कर्मों के बीच में जो भेद है, उसे समझना होगा। वास्तव में कर्म तो एक भी बुरा नहीं है पर उनको करने की व्यवस्था में अन्तर आ जाने से रूप बदल जाते हैं। एक ही कर्म, व्यवस्था-भेद से पाप भी हो सकता है और पुण्य भी। जैसे 'दान देना' एक कर्म है। यदि सत्पत्र को दान दिया जाये तो वह पुण्य हुआ और यदि कुपात्र को दान दिया जाय तो वही पाप है। 'मैथुन' एक कर्म है। यदि वह स्वपली के साथ हो तो उचित है किन्तु यदि परपत्नी के साथ हो तो अनुचित है। 'मद्यपान' एक कर्म है। यदि रोग निवृत्ति के लिये औषधि रूप से उसे सेवन किया जाय तो योग्य है किन्तु उन्मत्त होने के लिये उसे किया जाय तो अयोग्य है। 'हिंसा' एक कर्म है। यदि अत्याचारी, दुष्ट, घातक प्राणी को मार डाला तो उचित है किन्तु उपकारी, हानि न करने वाले, निर्दोष प्राणी को मार डाला जाय तो वह अनुचित है। अदालत की आज्ञानुसार अपराधी को फाँसी देने वाला व्यक्ति पापों नहीं होता और न सिंह, सर्पादि, दुष्ट जीवों को हनन करने वाला क्षत्रिय पापी कहा जाता है। किन्तु निर्दोष को मारने वाला अपराधी ठहराया जाता है। परोपकार के लिए, धर्म-कार्य के लिए, विवेकपूर्वक यदि चोरी, ठगी, झूठ, छल का भी आश्रय लेना पड़े वह अर्धर्म नहीं ठहरता। पाठक गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे तो उनकी समझ में यह बात भली प्रकार आ जायेगी कि जितने भी कार्य मनुष्य द्वारा होते हैं। वे कर्म स्वतः भले या बुरे नहीं हैं पर उनका

प्रयोग जिस रूप में किया जाता है, उसके अनुसार वे पाप-पुण्य बन जाते हैं।

दो रसोइया भोजन बनाते हैं। एक का भोजन अच्छा बना दूसरे ने अज्ञान से उसमें बहुत-सी वृत्तियाँ रहने दीं। खाने वाले अच्छा भोजन बनाने वाले की प्रशंसा करेंगे, उसे सुयोग्य ठहरावेंगे। परन्तु जिसने भोजन बनाने में बहुत-सी भूलें की थीं, उसकी तैयार की हुई वस्तुएँ दुकराई जायेंगी, खाने वाले उससे नाराज होंगे, हर कोई कट्टु शब्द कहेगा। मालिक उसे दण्ड भी देगा! दोनों ही रसोइयों ने वस्तुतः अपना नियत कर्म ही किया था। मूल कर्म में कुछ दोष न था पर कार्य करने की पद्धति में भेद हो जाने से एक को भलाई और दूसरे को बुराई मिली, एक ने आदर पाया, दूसरा तिरस्कार का भाजन बना। पाप-पुण्य की भी ऐसी ही बात है। अपनी तरक्की के लिए, ज्ञान-वृद्धि के लिये, आनन्द प्राप्त करने के उद्देश्य से ही समस्त मनुष्यों के सब काम होते हैं। इन तीन को छोड़कर चौथे उद्देश्य में कोई भी व्यक्ति कुछ काम नहीं करता। साधु, सन्त, त्यागी, परोपकारी या दुष्ट-दुराचारी सभी कोई उपरोक्त तीन आकांक्षाओं से प्रेरित होकर अपने-अपने कार्य कर रहे हैं। इनमें से चतुर रसोइए की भाँति जो लोग सावधानी और बुद्धिमानी से अपनी कार्य-पद्धति निर्माण करते हैं वे पुण्यात्मा कहे जाते हैं और जो असावधानी एवं अदूरदर्शिता के साथ काम करते हैं उन्हें पापी कहा जाता है।

अमुक कर्म पाप है, अमुक पुण्य है, यह निर्णय करने में सृष्टि के आदि से ही सम्पूर्ण धर्मशास्त्र और तत्त्ववेत्ता लगे हुए हैं। अब तक पाप-पुण्य की परिभाषा करने में हजारों धर्मग्रन्थ निर्मित हो चुके हैं परन्तु कोई सर्वसम्मत फैसला न हुआ। एक दल के विद्वान् जिन कार्यों एवं विचारों को धर्म ठहराते हैं, दूसरे उसे अधर्म कह देते हैं। इस प्रकार लोक में बुद्धि भ्रम तो बढ़ता है पर कुछ ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो पाता। महाभारतकार का मत इस सम्बन्ध में हमें सबसे अधिक बुद्धिसंगत प्रतीत हुआ है। भगवान् व्यास ने लिखा है—“परोपकार पुण्याय, पापाय परपीड़नम्” अर्थात् परोपकार पुण्य है और दूसरों को दुःख देना पाप है। दूसरों के साथ उपकार करना पुण्य इसलिए है कि इससे अपनी तीनों मूल वृत्तियों के बढ़ने में विशेष सहायता मिलती है। यह एक निश्चित नियम है कि जैसा व्यवहार हम दूसरों के साथ करते हैं वैसा ही व्यवहार दूसरे हमारे साथ करते हैं। यदि हम दूसरों के मार्ग में बाधक नहीं हों तो दूसरे हमारे मार्ग में बाधक नहीं होंगे। यदि हमने अपना स्वभाव नम्र, मधुर, आनन्दी, उपकारी, दयालु बना लिया है तो बहुत अंशों में दूसरे लोगों का व्यवहार भी हमारे प्रति वैसा ही होगा। चार, डाकुओं को चारों ओर अपने पकड़ने वाले ही दिखाई पड़ते हैं किन्तु सज्जन, धर्मात्मा एवं ईमानदार व्यक्ति निधंडक पैर पसार कर सोते हैं। उन्हें आत्मिक अशान्ति का अनुभव नहीं करना पड़ता जैसा कि दूसरों को हानि

पहुँचाने वाले लोगों का कलेजा हर घड़ी काँपता रहता है। सत्पुरुषों का सर्वत्र आदर होता है, वे निर्धन होते हुए भी बेताज के बादशाह होते हैं। कारण यह है कि परोपकार वृत्तियों में बहुत बड़ा आध्यात्मिक आकर्षण होता है। फूल की सुगन्ध से मुग्ध मधुमक्खियाँ इसके चारों ओर भिन्भिनाती फिरती हैं वैसे ही परमार्थी स्वभाव के आकर्षण से अन्य लोग अपने आप प्रशंसक एवं सहायक बन जाते हैं।

अपने कार्यों को सेवा युक्त बना देने से अन्तःकरण को असाधारण शान्ति प्राप्त होती है। जीवन में पग-पग पर उल्लास बढ़ता जाता है। क्रूरता, कुटिलता, छल-पाखण्ड से जो मानसिक उट्टेग उत्पन्न होता है, वह जीवन को बड़ा ही अव्यवस्थित, अशान्त एवं कर्कश बना देता है। मानव-जीवन में जो आध्यात्मिक अमृत छिपा हुआ है, वह स्वार्थी लोगों को उपलब्ध नहीं हो सकता। जो व्यक्ति अपने ही सुख का ध्यान रखता है, अपनी ही चिन्ता करता है और दूसरों के स्वार्थों की परवाह नहीं करता, वह बड़ी विषम स्थिति में फैस जाता है। सब लोग उससे घृणा करते हैं, कोई भी सच्चे दिल से उसे प्यार नहीं करता। यह हो सकता है कि मतलबी चापलूस उसकी हाँ में हाँ मिलावें, यह भी हो सकता है कि उसकी शक्ति के आतंक से डरकर विरोध करने वाले कुछ प्रत्यक्ष हानि न पहुँचा सकें तो भी अदृश्य रूप से वह बड़े भारी घाटे में रहता है। स्वार्थी मनुष्य अपेक्षाकृत अपने लिए अधिक सुख चाहता है इसके लिए दूसरों को सताता है। सताये हुए व्यक्ति की आत्मा में से शापयुक्त आहें निकलती हैं जो शब्दबेधी बाण की तरह उसके पीछे चिपक जाती हैं और उसे घोर मानसिक कष्ट देती रहती हैं। जिन लोगों की प्रत्यक्ष हानि नहीं की है वे भी स्वार्थी की अनीति से घृणा करते हैं और वे असंख्य मनुष्यों की घृणा, भावनाएँ उस स्वार्थी के लिये अदृश्य रूप से बड़ी घातक परिणाम उपस्थित करने में लग जाती हैं। मोटी बुद्धि से देखने में स्वार्थी मनुष्य कुछ भौतिक वस्तुएँ इकट्ठी कर लेने वाला, मालदार भले ही दिखाई देता हो परन्तु वह असल में बहुत बड़े घाटे में रहता है, उसकी सारी मानसिक सुख-शान्ति नष्ट हो जाती है।

परमार्थमय जीवन बिताने पर, अपने कार्यों को दूसरे के लिये लाभदायक बना देने पर, अपना जीवन बिल्कुल निरापद एवं प्रफुल्लित हो जाता है। त्याग-भावना को, प्रेम-व्यवहार को, प्रमुख नीति बना लेने पर किसी से संघर्ष होने का अवसर उपस्थित नहीं होता और न शाप एवं घृणा के शब्द-बेधी बाण आत्मा को हर घड़ी घायल करते हैं, वरन् दूसरों के आशीर्वाद, शुभ संकल्प, सद्भाव, देवताओं की भाँति पुष्ट वृष्टि करते हैं। अदृश्य लोक से अपने ऊपर अमृत वृष्टि होती हुई, हमारा अन्तःकरण अनुभव करता है, जिसके कारण मौनसलोक उल्लास और आनन्द से भरपूर बना रहता है। उत्तम स्वभाव वाला परमार्थी मनुष्य अपने दैवी प्रभाव से आस-पास के लोगों पर वैसा ही प्रभाव डालता है जिससे एक उत्तम समाज का

## ३.४ धर्म तत्त्व का दर्शन और मर्म

निर्माण होने लगता है। पड़ोसियों के साथ हम प्रेम, भलमनसाहत, न्याय और ईमानदारी का व्यवहार करते हैं तो वह भी उसका अनुकरण करने के लिए बहुत अंशों में प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार मनुष्य अपने और दूसरे के जीवन को, परमार्थ नीति के अपना लेने पर सुख-शान्ति पूर्ण बना लेता है।

इस लेख के आरम्भ में ही यह कहा गया है कि किसी कर्म को बुरा या भला बतलाना ठीक नहीं क्योंकि कर्म तो एक पदार्थ है, जैसे लोहा। लोहे से शास्त्र रचना करने वाली लेखनी भी बन सकती है और हत्या करने वाली छुरी भी बन सकती है। वस्तु एक है पर प्रयोग भेद से वह दो भिन्न प्रकार की हो गई। पाप-पुण्य भी ऐसे ही किसी एक कार्य के दो प्रयोग-भेद हैं। व्यासजी ने परोपकार को पुण्य और स्वार्थ को पाप बताकर एक बहुत ही उत्तम सम्मति प्रकट की है। अपने लिये अपेक्षाकृत अधिक चाहना पाप है और दूसरों की सुविधा का अधिक ध्यान रखना पुण्य है। स्वार्थी को पापी और परमार्थी को पुण्यात्मा कहा जा सकता है, क्योंकि स्वार्थ से स्वयं मानसिक अशान्ति प्राप्त होती है एवं दूसरे के कष्ट होने के कारण विरोधी वातावरण उत्पन्न होता है, परमार्थ से आत्मिक शान्ति उपलब्ध होती है, दूसरे लोग सुख पाते हैं, समाज में शान्ति रहती है और सद्भावों का सुखदायी वातावरण उत्पन्न होता है।

कर्मयोग के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों के अनुसार कोई व्यक्ति साधारण काम-काज करता हुआ भी संन्यासी और तपस्वियों की गति प्राप्त कर सकता है। शिक्षा, मजदूरी व्यापार या अन्य कोई भी काम करता हुआ मनुष्य यदि अपने विचारों को परमार्थी रखे तो उसका वही दैनिक कार्य धर्म हो जायेगा। एक दुकानदार अपनी दुकान को परमार्थी भावना से चलाता है। अपनी मजदूरी, मुनाफा नियत कर लेता है। फिर ठीक भाव से, पूरा तोलकर बेचता है। अनजान को कम और जानकार को अधिक नहीं देता। अपने कार्य को समाज सेवा, धर्म समझता है। इसलिए वह खराब, मिलावटी, दूषित, हानिकर वस्तुएँ नहीं बेचता, यदि कोई दुकानदार इस तरीके से अपनी दुकानदारी चलाता है तो निस्सन्देह वह पूर्ण धर्मात्मा है। धर्म की पहचान यही है कि स्वयं आत्मिक शान्ति प्राप्त हो और दूसरों को सुख मिले। उस दुकान से यदि यह दोनों कार्य पूरे होते हैं तो यज्ञशाला से वह किसी प्रकार कम नहीं ठहराई जा सकती। राजा जनक राजपाट करते थे, उनकी बहुत-सी रानियाँ भी थीं पर वे उच्च कोटि के योगी थे। बड़े-बड़े तपस्वी, वनवासी उनसे शिक्षा प्राप्त करने आते थे। राजपाट, दुकान, वेदपाठ, संन्यास, मजदूरी एक कार्य मात्र हैं। स्वयं न तो भले हैं न बुरे। इनका प्रयोग जिस रूप में किया जाय वैसा ही इनका भला-बुरा स्वरूप बन जाता है। उत्तम काम भी यदि बदनीयती से किया जाय तो उसका फल पाप के समान ही होगा और साधारण काम-काज भी यदि उत्तम भावना से किया जाय तो उसका परिणाम पुण्य स्वरूप होगा।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। कुछ अपवादों को छोड़कर शेष समस्त मनुष्य दूसरों के ही सहयोग से आनन्द लाभ कर सकते हैं। उत्तम भोजन, सुन्दर वस्त्र, मकान, सवारी, विद्या, मनोरंजन यह सब दूसरों के सहयोग से ही तो प्राप्त होता है। निन्दा-स्तुति, संयोग-वियोग, हानि-लाभ, अपमान-सत्कार यह कार्य दूसरों द्वारा होते हैं परन्तु हमारे सुख-दुःख का बहुत कुछ अवलम्बन इन्हीं पर निर्भर रहता है। निस्सन्देह समाज और व्यक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। व्यक्ति की उत्तमता से समाज की सुख-शान्ति और समाज की उत्तमता से व्यक्ति को प्रसन्नता बढ़ती है। पुण्य वे कार्य हैं जो व्यक्ति को त्यागी बनाकर उसे समाज के लिए उपयोगी बनाते हैं। “अपने लिये अपेक्षाकृत कम चाहना और दूसरे की सुविधा का अधिक ध्यान रखना।” यह मनोवृत्ति धर्म की आधारशिला है। त्याग, दया, उदारता, दान, सहायता, सेवा, परोपकार, परमार्थ यह पुण्य हैं क्योंकि इनको अपनाने से समाज के लिए मनुष्य उपयोगी बन जाता है और उस उपयोगिता के कारण दोनों पक्षों की समृद्धि होती है।

चोरी, हिंसा, छल, व्यभिचार, स्वार्थ, विश्वासघात, घमण्ड, मिथ्या भाषण, कर्कशता, अत्याचार, जुआ यह आदतें अधर्म कही जाती हैं। इन स्वभावों के साथ जो कार्य किये जाते हैं, वे पाप ठहराये जाते हैं, कारण यह है कि इससे दूसरों को, समाज को हानि होती है। जिन्हें हानि पहुँचाई गई है उनमें बदले की भावना बढ़ती है और कलह खड़ा हो जाता है। इसी प्रकार नशेबाजी, फिजूलखर्ची, बीमारी, गम्दगी, व्यक्तिगत पाप हैं। इनमें फँसा हुआ मनुष्य समाज के लिए हानिकारक सिद्ध होता है अतएव ऐसी आदतों को भी पाप ठहराया जाता है। व्यक्तिगत पाप अधिकतर अपने निजी जीवन को अनुपयोगी बनाते हैं और चोरी आदि सामाजिक पाप दूसरों को अधिक हानि पहुँचाते हैं इसलिये व्यक्तिगत पापों से सामाजिक पापों को बड़ा माना गया है।

पहले प्रकरण में बताया गया था कि हर मनुष्य सत्-अस्तित्व की उन्नति, चित्-ज्ञान वृद्धि, आनन्द-सुख साधना में लगा हुआ है। इन तीन को प्राप्त करने की इच्छा से ही उसके सारे काम होते हैं। उन कार्यों में कौन अनुचित है? किनको करने से उल्टी हानि उठानी पड़ती है? इन प्रश्नों का उत्तर ऊपर कहा जा चुका है कि परमार्थ भावना से किये हुए काम ही उत्तम एवं इष्टसिद्धि प्रदान करने वाले हैं। गीता के कर्मयोग का यही सारांश है।

## मध्यम मार्ग

यात्रा का नियम है कि मध्यम वृत्ति से कदम उठाये जाएँ, मामूली बीच की चाल से चला जाय। बहुत ही धीरे चलना तथा अत्यन्त तेजी से भागकर चलना यह दोनों ही स्थितियाँ हानिकारक हैं। बहुत धीरे चलने से यात्रा का क्रम रुक जाता है और नाना प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते

हैं । शरीर को परिश्रम करने की आवश्यकता है । यदि कोई व्यक्ति गहे तकिया पर पड़ा-पड़ा समय बिताये, तो नाड़ियाँ निर्बल हो जायेंगी, पाचन-शक्ति घट जायेगी, इन्द्रियों में दोष उत्पन्न हो जायेंगे । इसी प्रकार यदि शरीर से अत्यधिक काम लिया जाय, दिन-रात कठोर परिश्रम में जुटा रहा जाय तो भी शक्ति का अधिक व्यय होने से देह क्षीण हो जायेगी, परमात्मा ने मन एवं इन्द्रियों के अनुसार औजार दिये हैं, जिनसे जीव अपनी मूलभूत आकांक्षा को पूरी कर सके । पेट को भूख लगती है, बुद्धि को चिन्ता होती है कि भोजन प्राप्त करने का परिश्रम करना चाहिए । मस्तिष्क धन कमाने के उपाय सोचता है, पैर उद्योग-धन्ये की तलाश में धूमते हैं, हाथ मजदूरी करते हैं, अन्य अंग भी अपना-अपना काम करते हैं । इस सब प्रयत्न से शरीर के हर अंग की योग्यता बढ़ती है । बुद्धि, मस्तिष्क, हाथ, पैर सभी का अभ्यास बढ़ता है और उनकी सामूहिक उन्नति से मनुष्य की गुप्त शक्तियाँ सुदृढ़ होती जाती हैं । जीव का उतने अंशों में विकास होता जाता है । पेट को भूख न लगती तो मनुष्य जो निरन्तर उद्योग करता है, उसे क्यों करता ? अजगर की तरह किसी गुफा में पड़ा सोया करता, जब भी चाहता थोड़ा बहुत कमा लेता । न बुद्धि को कष्ट देने की जरूरत होती, न शरीर को । आज जितनी दौड़-धूप चारों ओर दिखाई पड़ रही है, भूख के न होने पर इसका हजारवाँ भाग भी दिखाई न पड़ता । सृष्टि संचालन के लिये परमात्मा को जीव की विकास-यात्रा निर्धारित करनी पड़ी और वह यात्रा गड़बड़ में न पड़ जाय इसलिये ऐसी आवश्यकताएँ पीछे लगा देनी पड़ीं जिनसे प्रेरित होकर जीव की विकास यात्रा निरन्तर जारी रहे ।

ऊपर पेट की भूख का उल्लेख किया गया है । ऐसी ही अनेक भूखें मनुष्य को रहती हैं । उनमें से कुछ शारीरिक हैं, कुछ मानसिक । इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को चाहती हैं यह कोई बुरी बात नहीं है वरन् आत्मोन्नति के लिये आवश्यक है । मैथुनेच्छा यदि मनुष्य को न होती तो वह बिल्कुल ही स्वार्थी बना रहता । सन्तान के लालन-पालन में जो परोपकार की, सेवा की, स्नेह की, दुलार की, कष्ट सहन की भावनाएँ जाग्रत होती हैं वे बिना सन्तान के कैसे होतीं ? काम-वासना बिना सन्तान न होती, इसलिये सत्त्विकी वृत्तियों को जगाने के लिये कामवासना की भूख परमात्मा ने मनुष्य को दे दी । इन्द्रियों की भूखें बड़ी ही महत्वपूर्ण हैं, उनकी रचना परमात्मा ने बहुत सोच-विचार कर की है । इसी प्रकार मनुष्य की सभी शारीरिक और मानसिक वृत्तियाँ जो जन्म से उसे स्वाभाविक रीति से प्राप्त होती हैं, जीवन को उन्नत, विकसित, सरस, उत्साहप्रद एवं आनन्दी बनाने के लिये बहुत ही आवश्यक हैं ।

अक्सर धर्मिक विद्वान् इन्द्रिय भोगों को बुरा, धृष्णित, पापपूर्ण बताया करते हैं । असल में उनके कथन का मर्म यह है कि इन्द्रिय भोगों का दुरुपयोग करना बुरा है । जैसे अभाव बुरा है वैसे ही अति भी बुरी है । भूख रहने से

शरीर का हास होता है और अधिक खाने से पेट में दर्द होने लगता है । उत्तम यह है कि मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया जाय । न तो भूखे रहें और न अधिक खायें वरन् भूख की आवश्यकता को मर्यादा के अन्तर्गत पूरा किया जाय । वास्तविक बात यह है कि अति एवं अभाव को पाप कहते हैं । जैसे धन उपार्जन करना एक उचित एवं आवश्यक कार्य है । इसी में जब अति या अभाव का समावेश हो जाता है तो पापपूर्ण स्थिति पैदा होती है । धन न कमाने वाले को हरामखोर, निठल्ला, आलसी, अकर्मण, नालायक कहा जाता है और धन कमाने की लालसा में अत्यन्त तीव्र भावना से जुट जाने वाला लोभी, कंजूस, अर्थ-पिशाच आदि नामों से तिरस्कृत किया जाता है । कारण यह है कि किसी बात में अति करने से अन्य आवश्यक कार्य छूट जाते हैं । व्यायाम करना उत्तम कार्य है पर कोई व्यक्ति दिन-रात व्यायाम करने पर ही पिल पड़े अथवा हाथ-पैर हिलाना भी बन्द कर दे तो यह दोनों ही स्थितियाँ हानिकारक होंगी और विवेकवानों द्वारा निन्दा की जायेगी । विवेकपूर्वक खर्च करना एक मध्यम मार्ग है । परन्तु खर्च न करने वाले को कंजूस और बहुत खर्च करने वाले को अपव्ययी कहा जाता है । खर्च करना एक स्वाभाविक कर्म है पर अति या अभाव के साथ वही अकर्म बन जाता है ।

लघुता से महानता की ओर, अपूर्णता से पूर्णता की ओर जीवन की यात्रा का प्रवाह बह रहा है । इस चक्र को चालू रखने के लिये शारीरिक और मानसिक स्वाभाविक इच्छा-आकांक्षाएँ अपनी भूख प्रकट करती रहती हैं । (१) आरोग्य, (२) ज्ञान वृद्धि, (३) सौन्दर्य, (४) धन, (५) कीर्ति, (६) संगठन, (७) विवाह, (८) आत्म-गौरव-यह आठ वस्तुएँ हर मनुष्य चाहता है । इनकी शाखा-उपशाखाएँ अनेक हैं पर मूलतः यह आठ वृत्तियाँ ही प्रधान होती हैं । सत, चित्, आनन्द की तीन इच्छाएँ संसार के पंचभौतिक पदार्थों से टकराकर उपरोक्त आठ दुकड़ों में बँट जाती हैं । आठों पहर इन्हीं आठ कामों की इच्छा, अभिलाषाएँ मनुष्य को सताती हैं और वह किसी न किसी रूप में तृप्त करने के लिये उद्योग किया करता है । साधु-चोर, अर्मार-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित, स्त्री-पुरुष सब कोई अपनी आठ मानसिक वृत्तियों को बुझाने के नाना प्रकार के कर्मों का ताना-बाना बुनते रहते हैं । तीन सूक्ष्म आकांक्षाएँ पंचतत्वों के आठ पदार्थों के साथ आठ प्रकार से प्रकट होती हुई हर कोई देख सकता है । पापी और पुण्यात्मा इन कार्यों के अतिरिक्त और कोई कार्यक्रम अपने सामने नहीं रखते ।

मध्यम मार्ग से इन वृत्तियों को तृप्त करने वाला इस संसार में धर्मात्मा कहा जाता है और जो अति या अभाव की नीति ग्रहण करता है, उसकी शुमार पापियों में की जाती है । जो शरीर को नीरोग रखने के लिये प्रातःकाल उठता है, स्नान करता है, दन्त धावन, व्यायाम करता है, मस्तिष्क को शीतल रखने के लिये चन्दन लगाता है, छना

### ३.६ धर्म तत्त्व का दर्शन और मर्म

हुआ जल पीता है, रोगनाशक तुलसी-पत्रों का सेवन करता है, गन्दे आदमियों का छुआ नहीं खाता, ब्रत-उपवास रखता है, वह धर्मात्मा है। निस्सन्देह स्वास्थ्य को टीक रखने वाला पुण्यात्मा ही कहा जा सकता है क्योंकि मनुष्य के अन्तःकरण में घुसकर बैठी हुई आरोग्य भावना का वह मध्यम मार्ग से पोषण करता है जो अभाव या अति का व्यवहार करेगा वही पापी कहलायेगा। सूर्योदय तक सोने वाला, स्नान में लापरवाही करने वाला, अन्जल की शुद्धता पर ध्यान न देने वाला, उपवास न करके येट को खराब रखने वाला पापी है क्योंकि उसमें मध्यम मार्ग का अभाव है। जो व्यक्ति आरोग्य की आतुरता में अन्धा हो रहा है, भक्ष-अभक्ष का विचार न करके जो चाहे सो खाता है या बहुत ब्रत रखता है, अन्य सब काम छोड़कर केवल दिन-रात आरोग्य को ही पकड़े बैठा है, वह भी पापी है क्योंकि उसने मध्यम मार्ग को छोड़कर अति का आश्रय लिया है।

'जानकारी बढ़ाना' स्वाभाविक वृत्ति है। जो विद्या पढ़ता है, स्वाध्याय करता है, सत्संग करता है, ग्रन्थ सुनता है, तीर्थयात्रा करता है, वह पुण्यात्मा है। जो अपनी वृद्धि को आगे न बढ़ाने देने के लिये कसम खाकर अन्धविश्वास एवं कूपमंडूक की भाँति कोठरी का ताला बन्द करके बैठा है वह पापी है। इसी प्रकार वह भी पापी है जो ज्ञान की लालसा में अगम्य स्थानों पर जाता है। अनुचित तर्क करता है, न जानने योग्य, गुप्त एवं दूषित बातों को जानने का प्रयत्न करता है। अभाव बुरा है अति भी बुरी है।

'सौन्दर्यप्रियता' सभी स्त्री-पुरुष, बालक-बालिकाओं को होती है। सफाई, स्वच्छता, सजावट, आकर्षण, सुन्दरता का प्रदर्शन इस इच्छा को किसी भी प्रकार दबाया नहीं जा सकता। संसार को मिथ्या कहने वाले भी ईश्वर की मूर्तियों को नाना सजावट शृंगारों से सुसज्जित करके नेत्रों को तृप्त करते हैं। धार्मिक कर्मकाण्डों में हर काम सजावट से भरा-पूरा होता है। सोलह संस्कारों में से एक भी ऐसा नहीं है जिसमें संस्कार होने वाले व्यक्ति की, उस स्थान की, वहाँ की वस्तुओं की अनेक बहानों से सजावट न होती हो। रंग-बिरंगे चौकपूरन, कलश, रोली, अक्षत, आप्रपत्र, शुभ-वस्त्र आदि की सजावटें तो धार्मिक कर्मकाण्डों का प्रधान अंग बन चुकी हैं। कला प्रेमी व्यक्ति शौच, स्वच्छता, सात्त्विक सजावट से रहने वालों तक का समाज में विशेष आदर होता है। वेश-भूषा को देखते ही उसकी पोजीशन समझ में आ जाती है। घर, कमरा, फर्श, कपड़े, टोपी, काम में आने वाली वस्तुएँ किसी मनुष्य के दुच्चीपन एवं महत्व को चिल्ला-चिल्लाकर बताते रहते हैं। इससे तो कुवेश-भूषा वालों, अस्त-व्यस्त सजावट रखने वालों को घृणा की दृष्टि देखा जाता है। जो लोग सजावट में अति करते हैं, फैशन में ही ढूबे रहते हैं, योग्यता और स्थिति का उल्लंघन करके अत्यधिक टीप-टाप करते हैं वे भी तिरस्कृत होते हैं क्योंकि अभाव की भाँति अति को भी पापी माना जाता है।

धन उपार्जन के सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है कि कमाऊ पूत सबसे अच्छे लगते हैं। उनकी सर्वत्र प्रशंसा होती है। धर्म पालन करने वाले की प्रशंसा होनी भी चाहिए। धन न कमाने वाले आलसी और अधिक कमाने वाले अर्थ-पिशाच इसलिये कहे जाते हैं कि उन्होंने मध्यम मार्ग छोड़कर या तो अति का आश्रय लिया है या अभाव में पड़े हुए हैं।

'कीर्ति' के लिये मनुष्य प्राण दे देते हैं। अपनी प्रशंसा सुनकर मनुष्य की बाछें खिल उठती हैं। लोकहितकारी, आत्म-सुख-वर्द्धक, धर्म-कार्य करने से प्रतिष्ठा, आदर, सद्भाव, आशीर्वाद, प्रोत्साहन, प्रशंसा कीर्ति प्राप्त होती है। यह धर्म मध्यम मार्ग है। दूसरों की रुचि, इच्छा, आवश्यकता के ध्यान बिना अविवेकपूर्वक मनमानी करते रहना अधर्म है, क्योंकि जो स्वार्थी, एकाकी, हृदयहीन एवं जड़ होगा वही यश-अपयश का ध्यान रखे बिना कार्य करेगा। नीति ग्रन्थों में यश की बड़ी प्रशंसा की है। यशस्वी का जीवन ही जीवन बताया है। यश रहित को निर्जीव की उपमा दी है। शास्त्रकारों का मन्त्रव्य है कि सुयश सम्पादित करके यशेच्छा की आध्यात्मिक भूख को बुझाना चाहिए। प्रीति-भोजों में, मेले-उत्सवों में, शहरों में जाना लोग इसलिये पसन्द करते हैं कि वहाँ रहने वाले बहुत से मनुष्यों की शारीरिक विद्युत की गर्मी से मिलने वाला सुख प्राप्त करें। जाड़े के दिनों में अधिक कपड़े पहनकर उनकी गर्मी से शरीर को सुख मिलता है। इसी प्रकार जहाँ अधिक मनुष्य रहते हैं उन स्थानों में पहुँचने पर उनके शरीर से निकलने वाली अनेक विद्युत-तरंगों से मन प्रसन्न होता है। यश से भी ऐसी ही आध्यात्मिक विद्युत-तरंगें प्राप्त होती हैं। प्रशंसक लोग अपनी शुभ-कामनाएँ, सद्भावनाएँ प्रवाहित करते हैं। वे सब इकट्ठी होकर यशस्वी व्यक्ति के आस-पास इकट्ठी हो जाती हैं और गरम कपड़ों की भाँति तथा मित्र-मण्डली की भाँति अदृश्य रूप से आध्यात्मिक सुख पहुँचाती हैं। अपयश के साथ लोगों का रोष, घृणा, विरोध एवं दुर्भाव इकट्ठे होकर उस व्यक्ति पर आक्रमण करते हैं और उसके अन्तःकरण को व्यथित कर डालते हैं, ऐसे व्यक्ति जिनकी चारों ओर निन्दा होती है बड़े ही दुःखी, चिन्तित, उदास एवं अशान्त देखे जाते हैं। शर्म के भार से उनका मन सदैव दबा हुआ रहता है।

कहाँ-कहाँ कीर्ति की इच्छा को बुरा बताया गया है और यश-आकांक्षा छोड़ देने के लिये कहा गया है। वहाँ 'अति' का विरोध है, सुकर्म करके प्रशंसा प्राप्त करने के मध्यम मार्ग का उल्लंघन करके जब मनुष्य किसी प्रकार दूसरों के मुँह अपनी चर्चा सुनने के लिए लालायित हो जाता है, तो वह भले-बुरे का विचार छोड़ देता है। बदनाम हुए तो क्या नाम न होगा की नीति अपना लेना यश की अति इच्छा का परिणाम है। झूठा, शेर्खीखोर, ढोंगी मनुष्य अपनी यशेच्छा को अत्यन्त बढ़ जाने देते हैं और उसकी पूर्ति के लिए अनेक प्रकार उच्छृंखल, उद्घण्ड,

अति साहसी लोग भारी जोखिम उठाते हैं, नीति-अनीति का विचार छोड़ देते हैं और ऐसे असाधारण कार्य करते हैं जिनसे उनकी चर्चा चारों ओर होने लगे। मुझे भूत चढ़ता है, मुझे देवता के दर्शन हुए, मैंने अमुक-अमुक साहसिक कार्य किये आदि मनगढ़न्त बातें कहकर कई व्यक्ति अपनी विशेषता प्रकाशित करते हैं और उसके कारण होने वाली जनचर्चा से अपनी यशेच्छा को तृप्त करते हैं। किसी स्वतन्त्र पुस्तक में हम यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि यशेच्छा के विकृत रूप में लोग नाना प्रकार की बीमारियों और बुरी आदतें भी किस प्रकार अन्दर धारण कर लेते हैं। यश प्राप्त करना आवश्यक है क्योंकि उससे आध्यात्मिक लाभ होता है। परन्तु उसका अभाव और अति दोनों ही हानिकारक होने से अधर्म कहे जाते हैं।

समूह बनाने, मिल-जुलकर रहने, संगठन करने की इच्छा ने ही मनुष्य को सामाजिक प्राणी बना दिया है। कुटुम्ब, जाति, गोत्र, धर्म, सम्प्रदाय, राष्ट्र आदि का निर्माण इसी इच्छा ने कराया है। अनेक सभाएँ, पार्टी, संगठन, परिवार, सत्संग, गोष्ठी, गिरोह, यूनिटें, अखाड़े, दल, क्लब हम अपने चारों ओर गुप्त एवं प्रकट रूप में फैले हुए देखते हैं। इन सबके मूल में मनुष्य की एक ही भूख काम कर रही है कि हम अधिक लोगों के साथ दल बांध कर रहें। ऊपर कीर्ति की चर्चा करते हुए बता चुके हैं कि मनुष्यों के शरीरों से निकलने वाले विद्युत प्रवाहों की गर्मी से जीव को बल प्राप्त होता है इसलिए उसे अकेले रहना बुरा लगता है और बहुत लोगों के बीच में रहते हुए प्रसन्नता प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध में यही एक बात और भी जान लेने की है कि रुचि का आकर्षण समानता में ही विशेष रूप से रहता है। मनुष्य के आचार-विचार जैसे हैं वह अपने वैसे लोगों को ही अपने साथ सम्बन्धित कर लेता है। “चोर-चोर मौसेरे भाई” बन जाते हैं। नशेबाजों की उक्ति है कि “दम भाई सो निज भाई” इसी प्रकार भले-बुरे, चोर, साधु, बालक, बृद्ध हर तरह के मनुष्य अपनी समानता का संगठन करते हैं। इस संगठन से अनेक गुना लाभ है। अलग-अलग मनुष्य थोड़ी-थोड़ी लकड़ी लाकर उन्हें अलग-अलग जलाकर शीत निवारण करें तो बहुत खर्च होने पर थोड़ा-थोड़ा लाभ होगा किन्तु यदि वे सब अपनी लकड़ियों को इकट्ठा करके एक ही स्थान पर सम्प्रिलित रूप से जलायें तो आग बहुत तीव्र जलेगी और सबका शीत निवारण हो जायेगा। संगठन में ऐसी ही महत्त्वपूर्ण विशेषता होने से साधारण लोग अपने समान विचार के लोगों के साथ रहना ठीक समझते हैं। इसलिये यह आकर्षण है। हर एक सम्प्रदाय का कहना है कि हमारे धर्म में शामिल होने से मुक्ति, स्वर्ग, जन्मत, बहिस्त, हैविन आदि की प्राप्ति होगी। धर्माचार्यों का यही प्रयत्न रहता है कि उनके सम्प्रदाय में अधिक लोग शामिल हों। वे अपने सम्प्रदाय में दीक्षित व्यक्ति को धर्मात्मा घोषित करते हैं। कारण यही है कि एक समान विचार के लोगों का एक सम्बन्ध सूत्र में बँधकर रहना एक-दूसरे के लिये

बहुत ही लाभदायक है। जो सबसे अलग रहता है, दूसरों से कम सम्बन्ध रखता है उसे लोग अज्ञानी, स्वार्थी, निर्माणी, हृदयहीन, निष्पुर कहते हैं एवं जो समूह में अत्यन्त लिप्त होकर किन्हीं व्यक्तियों से अतिममता जोड़ लेता है उसे मोहग्रस्त, मायाबन्धित कहते हैं। हमें समूहबद्ध रहना चाहिए, सद्विचार वालों को समता वाले व्यक्तियों के साथ सम्बन्धित रहना चाहिए। यह धर्म है। अति और अभाव की दशा में स्वार्थी अथवा मोहग्रस्त कहा जाता है जो अधर्म के ही दूसरे नाम हैं।

एक पूर्ण मानव की रचना के ईश्वर ने दो भाग कर दिये हैं। चने की दो दालें मिलकर एक चना बनता है। इसी प्रकार स्त्री और पुरुष मिलकर पूर्ण मानव बनता है। न केवल शारीरिक विकास की वरन् मानसिक विकास की गति भी दार्पणिक जीवन से बढ़ती है। इस धर्म विवेचन की पुस्तक में शरीर रचना और काम विज्ञान की उन पैचीदगियों का वर्णन करने का स्थान नहीं है, जिसके आधार पर वैज्ञानिक दृष्टि से यह सिद्ध किया जा सकता है कि स्त्री और पुरुष बिना एक-दूसरे के बहुत ही क्षति पीड़ित रहते हैं। बालक-बालिकाएँ अपने माता-पिता भाई-बहिनों से वह रस खींचते हैं। जिन लड़कियों को छोटे लड़कों के साथ खेलने का, पिता, चाचा, ताऊ आदि के पास रहने का अवसर नहीं मिलता वे अनेक दृष्टियों से निर्बल रह जाती हैं। इसी प्रकार जो लड़के माता, बहिन, चाची, दादी, बुआ आदि के सम्पर्क से वंचित रहते हैं उनमें भी अनेक भारी-भारी कमियाँ रह जाती हैं। सरकारी मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट देखने से पता चलता है कि विवाहितों की अपेक्षा विधवा एवं विधुरों की मृत्यु संख्या बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है। यहाँ साधु-महात्माओं के कुछ अपवादों की हम चर्चा नहीं करेंगे क्योंकि वे तो एकाकी रहते हुए भी अन्य उपायों से क्षति की किसी प्रकार पूर्ति कर लेते हैं। पर यह सर्व-साधारण के लिए सम्भव नहीं है। विवाह को पवित्र धार्मिक संस्कार माना गया है। पुत्र का विवाह कर देना पिता अपना धर्म-कर्तव्य समझता है, कन्या दान के फल से कन्या का पिता स्वर्ग की प्राप्ति की आशा करता है। कारण यह है कि दाम्पत्य जीवन बिताना मनुष्य की स्वाभाविक, ईश्वरप्रदत्त आवश्यकता है। उसकी पूर्ति करना धर्म कर्तव्य कहा ही जाना चाहिए। तरुण एकाकी, स्त्री-पुरुषों को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। विधवाएँ और विधुर स्वाभाविक रीति से गृहस्थ जीवन बिताने वालों की अपेक्षा तिरस्कृत समझे जाते हैं, उन्हें भाग्यहीन समझा जाता है। शहरों में किसी सम्प्रिलित बड़े घर में एक हिस्सा किराये पर लेने के लिए विधुर लोग कोशिश करते हैं पर उन्हें बहुत बार सफलता नहीं मिलती क्योंकि सदगृहस्थों बीच विधुर तो एक अविश्वासी, नीची श्रेणी का जीव समझा जायेगा। सधवा स्त्रियाँ बाहर के लोगों से वार्तालाप कर सकती हैं, शृंगार कर सकती हैं, परन्तु विधवा का ऐसा करना सन्देह भरा हुआ समझा जायेगा क्योंकि अविवाहित रहना मनुष्य की स्वाभाविक

## ३.८ धर्म तत्त्व का दर्शन और मर्म

ईश्वरप्रदत्त दृष्टि के अनुसार अवांछनीय है। यह अभावजन्य अधर्म है। अब अतिजन्य अधर्म को लीजिए, व्यभिचारी, कुकर्मी, अप्राकृतिक कर्म करने वाले, अगम्या से गमन करने वाले जो अनुचित उचित का भेद त्यागकर विवाह क्षुधा की अतिशय तृप्ति पर उतारू हो जाते हैं वे भी पापी कहे जाते हैं।

आत्म-गौरव की वृद्धि चाहने की भावना सर्वत्र पाई जाती है। नेता, मुखिया, गुरु, शासक, व्यवस्थापक, अधिकारी, पदवीधारी, जीवनमुक्त, सिद्ध, वैज्ञानिक, विद्वान्, दार्शनिक आविष्कारक, संचालक बनने की इच्छाएँ मानसिक भूमिका को आन्दोलित करती रहती हैं। चरित्रान्, धर्मनिष्ठ, सदाचारी, सदगुणी, कर्तव्यपरायण, व्यक्तियों में स्वाभिमान की भावना प्रभुख होती है। वे आत्म-गौरव को स्वयं अनुभव करते हैं और उसे ऐसे सुन्दर ढंग से संसार के सामने रखते हैं कि अन्य लोग भी उनके व्यक्तित्व का आदर करें। नीचे दर्जे के लोग कपड़े, जेवर, धन, सवारी, पदवी आदि की सहायता से अपनी महत्ता प्रकट करते हैं और ऊँची श्रेणी के विचार वाले व्यक्ति सदगुणों से अपने आपे का प्रदर्शन करते हैं। “आत्मा का बढ़ा हुआ गौरव अनुभव करना” सारी योग साधना का केवल मात्र इतना ही दृष्टि बिन्दु है, आत्मा को परमात्मा में मिला देना, मुक्ति लाभ करना इन शब्दों के अन्तर्गत आत्म-गौरव की वृद्धि करने की ही भावना खेल रही है। स्वाभिमान की आत्मसम्मान की आकांक्षा उन्नततम, विकासवान मनुष्यों में अधिक स्पष्ट देखी जाती है क्योंकि वह इच्छा उच्च आध्यात्मिक सतोगुणी भूमिका में उत्पन्न होती है। आत्म-गौरव की प्राप्ति मनुष्य की आध्यात्मिक भूख है। जो इस साधना में प्रवृत्त है वह धर्मात्मा कहलाता है किन्तु जिसने आत्म-सम्मान नष्ट करके दीनता, दासता, पशुता को अपना लिया है वह पापी है। इसी प्रकार वह भी पापी है जो अनुचित आत्मगौरव में प्रवृत्त है। ऐसे मनुष्य अहंकारी, घमण्डी, अकड़बाज, बदमिजाज कहकर अपमानित किये जाते हैं।

मनुष्य को मनुष्य बनना चाहिए। इन्सानियत आदमियत, मनुष्यत्व वह स्वर्ग सोपान है जिसके लिये देवता भी तरसते हैं। इस मध्यम मार्ग को अपनाने वाले देव-स्वभाव के मनुष्य कर्तव्यपरायण एवं धर्मात्मा कहे जाते हैं। इन्सानियत धर्म है। इसके अभाव को हैवानियत और अति को शैतानियत कहते हैं। जो व्यक्ति अपनी स्वाभाविक ईश्वरप्रदत्त इच्छाओं को कुचलता हुआ दीनतापूर्वक अभावग्रस्त जीवन व्यतीत कर रहा है वह आत्मघाती पशुता को अपनाने वाला अधर्मी है। इसी प्रकार वह भी अधर्मी है, जो इच्छाओं की अति पूर्ति के लिए व्याकुल होकर मर्यादा को छोड़ बैठा है। दूसरों की परवाह किए बिना अत्यन्त तीव्र वेग से, इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये तूफानी गति से दौड़ता है उस परपीड़क, शैतानियत को ग्रहण करने वाले को अधर्मी के अतिरिक्त और क्या कहा जाय? अति में पाप है और अभाव में भी

पाप है। अत्यन्त धीरे चलने वाला पिछड़ जाता है और अत्यन्त दौड़ने वाला थककर चूर-चूर हो जाता है। इसलिये आप मध्यम मार्ग को ग्रहण कीजिये, दीनतापूर्वक अकर्मण्यता के अज्ञान में पड़े अभावग्रस्त जीवन बिताना छोड़िये! चलिये, उठिये, मनुष्यों की भाँति गौरव और सुख शान्ति का जीवन प्राप्त कीजिये! परमात्मा ने आपको जो भूखें दी हैं वे आपकी उन्नति में सहायता के लिये हैं उन्हें पूरा करने के लिये विवेकपूर्वक अपना कार्यक्रम निर्धारित कीजिए, संसार सब प्रकार सुविधाजनक सामग्रियों से भरपूरा है, फिर आप ही क्यों मलीन, उदास, अभावग्रस्त, दीनतापूर्वक जीवन बितावें? उठिये। मध्यम मार्ग को अपनाइए और मनुष्य का सा सुव्यवस्थित जीवन व्यतीत कीजिए। लेकिन सावधान रहना कहीं आपकी इच्छाएँ अमर्यादित होकर शैतानियत की ओर न खिसक पड़ें। घोड़े को “आगे रोक, पीछे ठोक” नीति से कदम चाल चलना सिखाया जाता है। आप जीवन को विकसित कीजिए किन्तु उसे शैतानियत तक मत बढ़ने दीजिए। मनुष्य का धर्म है इसलिए इसी अमृतमय मध्यम मार्ग पर आरूढ़ होते हुए अपनी मंगलमय जीवन यात्रा को आगे बढ़ने दीजिए।

## धर्म का मर्म

सृष्टि का निर्माण होने पर जीवों में जब चेतना शक्ति उत्पन्न हुई और वे कुछ कर्तव्य-अकर्तव्य के सम्बन्ध में सोचने-विचारने लगे तो उनके सामने धर्म-अधर्म का प्रश्न उपस्थित हुआ। उस समय भाषा और लिपि का सुव्यवस्थित प्रचलन नहीं था और न कोई धर्म पुस्तक ही मौजूद थी। शिक्षा देने वाले धर्मगुरु भी दृष्टिगोचर न होते थे, ऐसी दशा में अपने अन्दर से पथ-प्रदर्शन करने वाली आध्यात्मिक प्रेरणा जाग्रत होती थी। मनुष्य उसी के अनुसार आचरण करते थे ‘वेद अनादि, ईश्वरकृत हैं।’ इसका अर्थ यह है कि धर्म का आदि स्रोत मनुष्यों द्वारा निर्मित नहीं है वरन् सृष्टि के साथ ही अन्तरात्मा द्वारा ईश्वर ने उसे मानव जाति के निर्मित भेजा था। वेद की भाषा या मन्त्र रचना ईश्वर निर्मित है, यह मान्यता ठीक नहीं, वास्तविकता यह है कि प्रबुद्ध आत्माओं वाले ऋषियों के अन्तःकरण में ईश्वरीय सन्देश आये और उन्होंने उन सन्देशों को मन्त्रों की तरह रच दिया। प्रायः सभी धर्मों की मान्यता यह है कि “उनका धर्म अनादि है, पैगम्बरों और अवतारों ने तो उनका पुनरुद्धार मात्र किया है।”

**तत्त्वतः**: सभी धर्म अनादि हैं। अर्थात् एक ही अनादि धर्म की शाखाएँ हैं। उनका पोषण जिस वस्तु से होता है। वह ‘सत्’ तत्त्व है। वही धर्म सच्चे ठहर सकते हैं जो सत् पर अवलम्बित हैं। असत् तो वंचना मात्र है वह अल्पस्थायी होता है और बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है कोई भी सम्प्रदाय यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि हमारा धर्म ‘सत्’ पर अवलम्बित नहीं है। इसलिए यह

स्वीकार करना ही होगा कि एक ही अनादि सत्य का आश्रय लेकर अनेक धर्म-सम्प्रदाय उत्पन्न हुए हैं। यह आदि सत्य हमारी अन्तरात्मा में ईश्वर द्वारा भली प्रकार पिरो दिया गया है। न्याय बुद्धि का आश्रय लेकर जब हम कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करना चाहते हैं तो अन्तरात्मा उसका सही-सही निर्णय कर देती है। विभिन्न सम्प्रदायों के अपने-अपने स्वतन्त्र धर्मग्रन्थ हैं। वेद, कुरान, बाइबिल, जिन्दावस्ता, धम्पपद आदि असंख्य धर्मशास्त्रों में उसी महान् 'सत्' की व्याख्या की गई है। अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार इन महान् शास्त्रों ने सत् की व्याख्या की है, फिर भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ और अपने कथन की अपूर्णता को स्वीकार करते हुए 'नेति' 'नेति' ही कहते रहे। सभी धर्मों में नये सुधारक होते रहे और उन्होंने पुरानी व्याख्या को दोषपूर्ण बताकर अपनी रुचि के अनुसार सुधार किये। इन सुधारकों का कथन था कि उन्हें ईश्वर ने ऐसा ही सुधार करने के निमित्त भेजा है। इन सुधारकों में भी सुधार करने वाले होते आये हैं और वे सब भी धर्माचार्य ही थे। सत्य एक ही है तो भी उसका प्रयोग करने की विधियाँ बदलती रहती हैं। शरीर की ऋतु-प्रभावों से रक्षा करनी चाहिए, यह एक सच्चाई है पर इसका व्यावहारिक रूप समय-समय पर बदलता रहता है। जाड़े के दिनों में जिन कपड़ों की आवश्यकता थी उनका गर्मी के दिनों में कोई उपयोग नहीं है। इसलिए पोशाक में परिवर्तन करना जरूरी है। यह आक्षेप करना उचित न होगा कि पैगम्बरों ने अपनी बात को ईश्वर की वाणी क्यों कहा? यदि उनके संदेश ही ईश्वर की वाणी थे तो अनेक धर्मों के पैगम्बर मतभेद क्यों रखते हैं? इनमें से एक को सच्चा माना जाय तो बाकी सब छूट ठहरते हैं। तथ्य बात यह है कि सभी पैगम्बरों की वाणी में ईश्वरीय संदेश था। उन्होंने जो कुछ कहा अन्तरात्मा की पुकार के आधार पर, ईश्वर की आकाशवाणी के संकेत पर कहा। समयानुसार प्रथाएँ बदलती हैं जैसे कि ऋतुओं के अनुसार पोशाक बदलती हैं। एक व्यक्ति दिसम्बर के महीने में यह शिक्षा देता है कि ऊनी कोट और स्वेटर पहनो तो उसकी शिक्षा सत्य से, धर्म तत्त्व से परिपूर्ण है। किन्तु यदि दूसरा व्यक्ति जून के महीने में यह कहता है कि-अब ऊनी कोट की, रुई के लिहाफ की कोई जरूरत नहीं है, बल्कि पतले कपड़े पहनने चाहिए। तो वह भी झूठा नहीं है।

कई बार साम्प्रदायिक और सामाजिक रीति-रिवाजों और अन्य मान्यताओं के सम्बन्ध में आपके सामने बड़ी पेचीदा गुत्थी उपस्थित हो सकती है। विभिन्न धर्मों के पूजनीय अवतार और धर्म ग्रन्थ एक-दूसरे से विपरीत उपदेश देते हैं। ऐसी दशा में बड़ा मतिभ्रम होता है किसे मानें और किसे न मानें? इस गुत्थी को सुलझाने के लिए आपको यह बात हृदयंगम कर लेनी चाहिए कि अवतारों का आगमन और धर्मग्रन्थों का निर्माण समय की आवश्यकता को पूरी करने के लिये होता है। कोई पुराने

नियम जब समय से पीछे के हो जाने के कारण अनुपयोगी हो जाते हैं, तो उनमें सुधार करने के लिये नये-नये सुधारक, नये अवतार प्रकट होते हैं। देश, काल और व्यक्तियों को विभिन्नता के कारण उनके उपदेश भी अलग-अलग होते हैं। देश, काल और पात्र के अनुसार वेद एक से चार हुए, कुरान में संशोधन हुआ, बाइबिल तो अनेक अवतारों की उक्तियों का संग्रह है। जब वैदिकी ब्रह्मोपासना आवश्यकता से अधिक बढ़ी तो भौतिकवादी वाममार्ग की आवश्यकता हुई, जब वाममार्ग हिंसा की अति हुई तो भगवान् बुद्ध ने अहिंसा का मार्ग चलाया, जब अहिंसा का रोड़ा मानव जीवन के मार्ग में बाधा देने लगा तो शंकराचार्य ने उसका खण्डन करके वेदान्त का प्रतिपादन किया। इसी प्रकार समस्त विश्व में धार्मिक और सामाजिक अन्तर होते रहे हैं। साम्प्रदायिक नियम और व्यवस्थाओं का अस्तित्व समयानुसार परिवर्तन की धुरी पर घूम रहा है। देश, काल और पात्र के भेद से इनमें परिवर्तन होता है और होना चाहिए। एक नियम एक समय के लिए उत्तम है तो वही कालान्तर में हानिप्रद हो सकता है। गर्मी की रातों में लोग नंगे बदन सोते हैं पर वही नियम सर्दी की रातों में पालन किया जायेगा तो उसका बड़ा घातक परिणाम होगा।

संसार के अनेक धर्मों के आदेशों को सामने रखें। उनके सिद्धान्त और आदेशों पर दृष्टिपात करें तो वे बहुत बातों में एक-दूसरे से विपरीत जाते प्रतीत होते हैं। उनमें विरोधाभास भी दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में भ्रम में पड़ने की कोई बात नहीं है। अन्यों ने एक बार एक हाथी को छूकर देखा और वे उसका वर्णन करने लगे। जिसने पैर छुआ था उसने हाथी को खम्भा जैसा, जिसने पैंछु छुई थी उसने बाँस जैसा, जिसने कान छुआ था उसने पंखे जैसा, जिसने पेट छुआ था उसने चबूतरे जैसा बताया। वास्तव में वे भी सत्यवक्ता हैं, क्योंकि अपने ज्ञान के अनुसार सभी ठीक कह रहे हैं। उनका कहना उनकी परिस्थिति के अनुसार ठीक ही है। परन्तु उसे पूरा नहीं माना जा सकता है। देश, काल और पात्र की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए अवतारी आत्माओं ने विभिन्न समयों पर विभिन्न धर्मों का उपदेश दिया है। भगवान् महावीर को एक माँस-भोजी निषाद मिला। उन्होंने उसे माँस भोजन त्याग देने के लिए बहुत समझाया पर कुछ भी असर न हुआ। तब उन्होंने सोचा कि इसकी मनोभूमि इतनी निर्मल नहीं है जो अपने चिरकाल के संस्कारों को एकदम त्याग दे। इसलिये उन्होंने धीरे-धीरे उसे बढ़ने के उपदेश देना उचित समझा। सोच-विचार के बाद भगवान् महावीर ने उस निषाद से कहा अच्छा भाई! कौवे का माँस खाना तो छोड़ दोगे यह भी बड़ा धर्म है। निषाद इसके लिये तैयार हो गया क्योंकि कौवे का माँस खाने का उसे अवसर ही न आता था जब त्याग का संकल्प कर लिया तो उसके मन में धर्म भावना जाग्रत हुई और धीरे-धीरे अन्य त्यागों को अपनाता हुआ कुछ दिन बाद बड़ा

## ३.१० धर्म तत्त्व का दर्शन और मर्म

भारी धर्मात्मा, अहिंसा का पुजारी और महावीर का प्रधान शिष्य बन गया। अवतारी महापुरुष जिस जमाने में हुए हैं उन्होंने उस समय की परिस्थितियों का, देश, काल का बहुत ध्यान रखा है। अरब में जिस समय हजरत मोहम्मद साहब हुए थे उस समय वहाँ के निवासी अनेक स्त्रियाँ रखते थे, उन्हें चाहे जब रखते और चाहे जब निकाल देते थे, जब सन्तान बढ़ती तो उनका पालन-पोषण न कर पाते तो निर्दयतापूर्वक बच्चों को मार-मारकर फेंक देते, उपयोगी और अनुपयोगी पशुओं की अन्धाधुन्ध हत्या करते थे। उन्हें धीरे-धीरे सुधारने के लिये हजरत ने चार स्त्रियाँ रखने की, बालकों को न मारने की, जीवहत्या एक नियत संख्या में करने की शिक्षा दी। समय बीत जाने पर अब तक एक व्यक्ति को चार स्त्रियाँ रखने की आवश्यकता नहीं, देखने में वह शिक्षा आवश्यक हो गई पर इसके मूल में छिपा हुआ सत्य ज्यों का त्यों आवश्यक है—“अपनी आवश्यकताओं को घटाओ, भोगों को कम करो।” प्रेम का यह सन्देश उस शिक्षा के मूल में था वह उद्देश्य करोड़ों वर्षों में भी परिवर्तित न होगा।

आप गम्भीरतापूर्वक धर्मतत्त्व पर दृष्टिपात कीजिए और धर्म की उन नियत व्यवस्थाओं में कौन-सी पवित्र और शाश्वत भावना काम कर रही है उसे ढूँढ़ निकालिये। सत्य शाश्वत है और कायदे, कानून, विचार, व्यवस्था परिवर्तनशील हैं। इस धूत सत्य का हृदयंगम करते ही धर्मों का आपसी विरोध वैमनस्य दूर हो जाता है और धर्म सत्य हैं एवं एक ही नींव पर रखे हुए हैं यह दृष्टिगोचर होने लगता है।

आप जिस सम्प्रदाय से निकट सम्पर्क रखते हैं। उसका सूक्ष्म दृष्टि से निष्पक्ष परीक्षक की भाँति, खरे आलोचक की भाँति निरीक्षण कीजिये। निस्सन्देह उसमें बहुत-सी बातें बहुत ही उत्तम होंगी क्योंकि हर सम्प्रदाय सत्य का सहारा लेकर खड़ा हुआ है। उसमें कुछ अच्छाई अवश्य ही होनी चाहिए। किन्तु यह भी निश्चय है कि समय ही प्रगति के साथ उसमें कुछ न कुछ निरुपयोगिता भी अवश्य आई होगी। निरुपयोगिता को भी मोहवश छाती से चिपटाये फिरेंगे तो आप अपना बहुत बड़ा अहित करेंगे। दो दिन पूर्व जो भोजन तैयार किया था, वह बहुत ही पवित्र, उत्तम, स्वास्थ्यकारक था पर दो दिन पुराना हो जाने के कारण आज तो वह बासी हो गया। उसमें बदबू आने लगी, स्वादरहित एवं हानिकर हो गया। उस बासी भोजन को मोहवश यदि ग्रहण करेंगे तो अपने को रोगी बना लेंगे। साम्प्रदायिक अनुपयोगी रीति-रिवाजों की परीक्षा कीजिए और उनका वैसे ही परित्याग कर दीजिये जैसे मरे हुये कुत्ते की लाश को घर से विदा कर देते हैं। पिछला कल बीत गया। अपनी बहुत-सी आवश्यकता-अनावश्यकताओं को वह अपने साथ समेट ले गया। आज तो आज की समस्याओं पर विचार करना है। आज के लिए उपयोगी नयी व्यवस्था का निर्माण करना है। एक समय में एक रिवाज उत्तम थी, केवल

इसीलिये वह सदा उत्तम रहेगी, यह कोई तर्क नहीं है। हो सकता है कि एक समय ‘नरमेध यज्ञ’ होते हों परन्तु आज उनकी पुनरावृत्ति कौन करेगा? आदिम युग में मनुष्य के पूर्वज दिगम्बर रहते थे पर आज तो सभी को कपड़ों की आवश्यकता होती है। पहले लोहे और पत्थर से आग पैदा की जाती थी इसीलिये कोई दियासलाई का बहिष्कार नहीं कर देता। अमुक नगर से अमुक नगर को पहले पक्की सड़क न थी पर आज बन गई है तो उस पर चलना पाप थोड़े ही कहा जायेगा। आप बुद्धि बेचकर पिछले कल की हर बात के अन्धविश्वासी मत बन जाइये अन्यथा अपने जीवन को दारुण दुःखों में फँसा लेंगे। बन्द गड्ढे का पानी सड़ जाता है। कहीं ऐसा न हो कि रुद्धियों के पौंगा-पन्थी के गड्ढे में बन्द पड़ी हुई आपकी बुद्धि सड़ जाय और उसकी दुर्गम्भि से पास-पड़ोसियों का सिर फटने लगे। सदैव अपनी चेतना को स्वच्छता की ओर रखिये। घर के कूड़े को जैसे रोज-रोज साफ किया जाता है वैसे ही धर्म-साधना के लिये अनुपयोगी रीति-रिवाजों की सदैव सफाई करते रहा कीजिए। उनके स्थान पर वर्तमान समय के लिए जिन प्रथाओं की आवश्यकता है, उनकी आधारशिला आरोपित करने के लिये साहसपूर्वक आगे कदम बढ़ाया कीजिये।

आपको नाना जंजालों से भरे हुए मत-मतान्तरों की ओर मुड़कर देखने की जरूरत नहीं है, क्योंकि उनमें से बहुत-सी वस्तुएँ समय से पीछे की हो जाने के कारण निरुपयोगी हो गई हैं, उनसे चिपके रहने का अर्थ यह होगा कि अपने हाथ-पाँव बाँधकर अपने को अँधेरी कोठरी में पटक लिया जाय। आप किसी भी धर्मग्रन्थ, सम्प्रदाय या अवतार का अनादर मत करिये, क्योंकि भले ही आज उनके कई अंश निरुपयोगी हो गये हैं, पर एक समय उन्होंने सन्तुलन ठीक रखने के लिए सराहनीय कार्य किये थे। आप सभी धर्मग्रन्थों, सम्प्रदायों और अवतारों का आदर करिये और उनमें जो बातें ऐसी प्रतीत हों, जिनकी उपयोगिता अब भी बनी हुई है, उन्हें ग्रहण करके शेष को अस्वीकार कीजिए। हंस की वृत्ति ग्रहण करके दूध को ले लेना और पानी को छोड़ देना चाहिये।

सत् धर्म का सन्देश है कि ईश्वर के प्राणप्रिय राजकुमारो! हे सच्चिदानन्द आत्माओ! हे नवीन युग के निष्कलंक अग्रदूतो? अपने अन्तःकरण में ज्योति पैदा करो। अपने हृदयों के कषाय-कल्मणों को मथकर निरन्तर धोते रहो। अपने अन्दर पवित्रता, निर्मलता और स्वच्छता को प्रतिक्षण स्थान देते रहो, इससे तुम्हारे अन्दर ब्रह्मत्व जाग्रत होगा, ऋषित्व उदय होगा, ईश्वर की वाणी तुम्हारी अन्तरात्मा का स्वयं पथ-प्रदर्शन करेगी और बतावेगी कि इस युग का क्या धर्म है? जब आप अनादि सत् धर्म को स्वीकार करते हैं तो इस नाना प्रकार के जंजालों से भरी हुई पुस्तकों की ओर क्यों ताकें? सृष्टि के आदि में जब सत् धर्म का उदय हुआ था तो जीवों का पथ-प्रदर्शन उनकी अन्तरात्मा-में बैठे हुए परमात्मा ने किया था इसी

को 'वेद' या आकाशवाणी कहा जाता है । आप पुस्तकों की गुलामी छोड़िये और आकाशवाणी की ओर दृष्टिपात कीजिये । आपकी अन्तरात्मा स्वतन्त्र है, ज्ञानवान है और प्रकाश स्वरूप है । वह आपको आपकी स्थिति के अनुकूल ठीक-ठाक मार्ग बता सकती है । यह मत सोचिये कि आप तुच्छ, अल्प और असहाय प्राणी हैं और आपको अन्धे की तरह किसी की उँगली पकड़कर ले चलने वाले की जरूरत है । ऐसा विचार करना आत्मा के ईश्वरीय अंश का तिरस्कार करना होगा ।

धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिये सद्बुद्धि आपको प्राप्त है । उसका निष्पक्ष होकर, निर्भय उपयोग किया कीजिये । मत कहिये कि हमारी बुद्धि अल्प है, हमरा ज्ञान थोड़ा है । हो सकता है कि अक्षर ज्ञान की दृष्टि से आप पीछे हों, परन्तु सद्बुद्धि तो ईश्वर ने सबको दी है । वह आपके पास भी कम नहीं है । दीनता की भावना को आश्रय देकर आत्मा का तिरस्कार मत कीजिये । अपनी सद्बुद्धि पर विश्वास करिये और इसी की सहायता से आज के लिए उपयोगी रीति-रिवाजों को स्वीकार कीजिये यही सच्चा धर्म का मार्ग है ।

## धर्म और प्रथाएँ

पुरानी रीति-रिवाजें माननी चाहिये या नहीं । इस प्रश्न का विवेचन करते हुए आपको प्राचीनता से राग-द्वेष नहीं होना चाहिये । बहुत-सी बातें ऐसी हैं जो प्राचीनकाल से ऐसे रूप में विद्यमान हैं जो अब भी वैसी ही उपयोगी हैं जैसी कि पूर्व समय में थीं किन्तु बहुत-सी बातें ऐसी हैं जो बहुत पीछे की हो गई हैं और उनकी उपयोगिता नष्ट हो चुकी है । इनकी मरी हुई लाशों को छाती से चिपकाये रहने से कुछ प्रयोजन सिद्ध न होगा वरन् सङ्केत और दुर्गम्य ही बढ़ेगी इसलिए आपका दृष्टिकोण यह नहीं होना चाहिए कि पुरानी बातों के अन्धविश्वासी रहेंगे या हर बात में उसका विरोध ही करेंगे । आप तो हर एक कार्य विचार और प्रथा की इस कस्टोटी पर कसिये कि वह देश, काल, पात्र के लिए भी उपयोगी है या नहीं । यदि उपयोगी प्रतीत हो तो ऐसा मत सोचिये कि नवीन विचार वाले हमें क्या कहेंगे, हमारा उपहास करेंगे । किन्तु यदि पुराने विचारों की अब की परिस्थितियों से टक्कर न खायें तो उसे निस्संकोच त्याग दीजिये । इस प्रथा को कायम रखने के लिए यह विचार बिलकुल निरर्थक है कि अमुक पुस्तक में इसका उल्लेख है या अमुक महापुरुष ने इस बात का आदेश किया था । उन धर्म पुस्तकों का या उन महापुरुषों के प्रति आपके अन्दर अवज्ञा के भाव नहीं होने चाहिये वरन् आदर करना चाहिए कि अपने समय में अपने समाज के लिए कैसी सुन्दर व्यवस्था का उन्होंने निर्माण किया था, आज उनकी बातें समय से पीछे पड़ गई हैं तो उनसे हम मोह क्यों करें? क्या उन महापुरुषों ने अपने में पूर्व प्रचलित प्रथाओं के साथ मोह किया था । यदि करते तो

उनके महत्त्वपूर्ण मन्त्रव्य जो हमें क्या सुनाई पड़ते हैं प्रकट ही न हुए होते ।

रीति-रिवाजों का आधार मानवीय सुविधा है, इसलिये उन्हें धर्म के साथ सम्बन्धित नहीं किया जा सकता । धर्म के तात्त्विक सिद्धान्त सार्वभौम होते हैं, वे सम्पूर्ण मनुष्यों पर एक समान लागू होते हैं । किन्तु जो जाति भेद, स्थान भेद आदि के कारण बदल जाते हैं वे धर्म नहीं कहे जा सकते । हिन्दू सन्ध्या करता है, मुसलमान नमाज पढ़ता है, ईसाई प्रेयर करता है । इनके तरीके या कर्मकाण्ड अलग-अलग हैं । क्या आप इन तरीकों को ही धर्म कहेंगे? तब तो अपुने मजहब वालों के सिवाय अन्य सारी दुनिया अधारिक ही कही जायेगी । आप हिन्दू हैं और सन्ध्या करते हुए विश्वास करते हैं कि इस प्रकार अन्तरात्मा की वाणी ईश्वर तक पहुँचाते हैं । ठीक इसी प्रकार एक सच्चे मुसलमान को भी यह मानने का अधिकार है कि वह नमाज द्वारा खुदा तक अपनी पुकार पहुँचाता है । दोनों ही सच्चे हैं । यदि रिवाजों की प्रधानता होती तो दोनों में से एक धार्मिक होता दूसरा अधारिक । किन्तु बात ऐसी नहीं है, रीति-रिवाजों का कोई मूल्य नहीं केवल भावना का महत्व है ।

मान लीजिये आप हिन्दू हैं । आपने सनातनी आर्य समाजी आदि मतभेद आते रहते हैं और सोचते हैं कि इनमें से किसे स्वीकार करना चाहिये किसे नहीं? इस प्रश्न का निर्णय करने के लिए बाहरी विवादों से कुछ अधिक सहायता न मिलेगी क्योंकि दोनों ही पक्ष वाले अपने-अपने मत का समर्थन प्रौढ़ शब्दावली एवं प्रखर तर्कों द्वारा करते हैं । इस शब्दावली और तर्क समुदाय में हर एक व्यक्ति उलझ सकता है और अपने को भ्रमित कर सकता है । भ्रम से बचने का एक ही सर्वोत्तम उपाय है कि शान्त चित्त से भ्रम के ऊपर विचार करें । विचार में स्वार्थपरता, लोक-लज्जा, हठधर्मी इन तीनों ही वस्तुओं को बिलकुल अलग कर दें और विशाल दृष्टिकोण, उदार-हृदय, निष्पक्ष निर्णय को अपनाते हुए सोचें कि वर्तमान समय की परिस्थितियों में कौन प्रथाएँ हितकर और कौन अहितकर हैं । पिछली भूमि पर से कदम उठाकर आगे की जमीन पर पाँव रखना यह यात्रा का निर्बाध नियम है । आप जब तक असंख्य मील लम्बी यात्रा पार कर चुके हैं और इस बीच में कल्पनातीत लम्बाई की भूमियों में गुजरते हुए उन्हें पीछे छोड़ चुके हैं, फिर जिन परिस्थितियों में पड़े हुए हैं उन्हें छोड़ने की जिज्ञास क्यों? अपने को किन्हीं संकुचित रस्सियों में मत बांधिये क्योंकि आप स्वतन्त्र थे और अब स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए विजय यात्रा कर रहे हैं । 'सत्य की शोध' यही जीवन का कार्य होना चाहिये । रूढ़िवाद यदि आपको सङ्गी-गली रस्सियों में जकड़े रहे और विकास-क्रम को रोककर अधिकाधिक स्वतन्त्र विचारधारा अपनाने से बंचित कर दे तो समझिये कि आपने गलत चीज अपना ली । धर्म के नाम पर उसकी सङ्गी-गली पीव को आपने बटोर लिया । यह पीव किसी

## ३.१२ धर्म तत्त्व का दर्शन और मर्म

समय में पृष्ठ माँस रहा था यह समझकर उसे चुल्लू में भरे फिरना योग-शास्त्र की दृष्टि में बिल्कुल मूर्खतापूर्ण है ।

रसोई करने के लिए लकड़ी धोकर काम में लानी चाहिये या नहीं ? नल का पानी पीना चाहिए या नहीं ? कपड़े पहनकर भोजन करना चाहिये या नहीं ? अमुक व्यक्ति को छूकर स्नान करना चाहिए या नहीं ? रात्रि में भोजन करना चाहिए या नहीं ? पानी छानकर पीना चाहिए या नहीं ? अमुक के घर रसोई ग्रहण करनी चाहिए या नहीं ? आदि प्रश्नों का उत्तर देने में हम बिल्कुल असमर्थ हैं, यह बातें किसी स्वास्थ्य विज्ञान के वेत्ता से पूछनी चाहिए । क्योंकि इन खानपान सम्बन्धी बातों का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि यह सब प्रश्न स्वास्थ्य विज्ञान की अपेक्षा करते हैं । एक समय था जब कानूनों की सीमा छोटी थी और धर्मशास्त्र के अन्तर्गत स्वास्थ्य, समाज, राजनीति, गृहस्थ, अर्थशास्त्र, आदि सब बातें आ जाती थीं । आज यह व्यवस्था बदल गई है । धर्म को हम अध्यात्म शास्त्र या योग शास्त्र कहते हैं जो कि अपरिवर्तनशील है । अन्य नियमोपनियम देशकाल की अपेक्षा करते हैं, इसलिये उन्हें भौतिक भूमिका में लाकर स्वतन्त्र शास्त्र बना दिया गया है, यद्यपि उन पर अंकुश धर्म का ही है । इसलिए अब खान-पान, शौच स्नान का प्रश्न स्वास्थ्य विज्ञान की आधारशिला पर स्थिर होना चाहिए । यदि कोई प्राचीन धर्म पुस्तक कहती है कि ब्राह्मण के हाथ का भोजन ठीक है किन्तु स्वास्थ्य विज्ञान कहता है कि गन्देपन, बीमार या बुरी आदतों के कारण अमुक व्यक्ति के हाथ का भोजन न करना चाहिए तो हम आपको स्वास्थ्यविज्ञान के निर्णय को मानने की ही सम्मति देंगे । नल का पानी, कच्ची-पक्की रसोई, छुआछूत इन बातों में स्वास्थ्य शास्त्र का आदेश ही माननीय है । अध्यात्म शास्त्र इन मामलों में बहुत उदार है और वह अकारण अधिक प्रतिबन्ध एवं संकीर्णता में मनुष्य जाति को फँसाने की इच्छा नहीं करता ।

इसी प्रकार लड़की-लड़कों का विवाह किस उम्र में करना चाहिए यह प्रश्न स्वास्थ्य से ही सम्बन्ध रखता है । जिस आयु में सन्तानोत्पादन की स्वाभाविक आवश्यकता होती है, उस उम्र में विवाह होना चाहिए । जिस आयु में काम विकारों का भड़काने की नहीं वरन् बालकों को उससे बचाने की आवश्यकता होती है, उस आयु में विवाह करने की आज्ञा कोई धर्मशास्त्र नहीं दे सकता ।

दाम्पत्य जीवन किस प्रकार व्यतीत करना चाहिए, इसका उत्तर समाजशास्त्र के अन्तर्गत होगा, विवाहित स्त्री और पुरुष यदि एक दूसरे से सन्तुष्ट न रहें तो उन में कलह पैदा होगा और कलह पड़ोसियों पर बुरा प्रभाव डालेगा एवं सन्तान को घृणास्पद बनावेगा । ऐसी सन्तान भार रूप ही होगी । समाज की शान्ति और सुव्यवस्था इसी पर निर्भर है कि स्त्री-पुरुष आपस में सन्तुष्ट रहें, एक-दूसरे से प्रेम रखें । पतिव्रत और पत्नीव्रत का व्रत पूर्ण रूप से पालन किया जाय । दुराचार की कोई इच्छा तक न करे ।

यदि एक व्यक्ति दुराचार की इच्छा करता है तो अपनी वासना के लिये दूसरे को तैयार कर लेता है तो उन दोनों के सोच-विचार दूसरों में वैसे ही भावनाएँ उपजाते हैं । यह अवांछनीय सम्बन्ध जब प्रकट होते हैं तो घृणा, द्वेष, अपमान, तिरस्कार आदि के भाव पैदा होते हैं, जिससे समाज का बड़ा अनिष्ट होता है । यह सब बातें बतलाती हैं कि समाजशास्त्र की दृष्टि से स्त्री पुरुषों को पतिव्रत और पत्नीव्रत पालन करना चाहिए, एक स्त्री का एक ही पुरुष से सम्बन्ध होना चाहिये ।

परन्तु उपर्युक्त नियम अपरिवर्तनशील नहीं हैं । पर्वतीय प्रदेशों में जहाँ लड़कियाँ कम और लड़के अधिक उत्पन्न होते हैं, वहाँ ऐसे रिवाज पाये जाते हैं कि एक पिता के जितने पुत्र हों वे सम्मिलित रूप से एक लड़की के साथ विवाह कर लेते हैं । इसी प्रकार वह एक स्त्री चार-छह पति वाली होती है । उन प्रदेशों में यह प्रथा सर्वथा धर्मसम्मत है । पाँच पांडवों की एक स्त्री द्वौपदी का होना प्रसिद्ध है । इस प्रकार जिन प्रदेशों में स्त्रियाँ अधिक और पुरुष कम होते हैं वहाँ एक पुरुष को कई विवाह करने की अनुमति है । इस्लाम धर्म वाले मानते हैं कि एक-एक पुरुष को चार स्त्रियाँ तक रखने की ईश्वरीय आज्ञा है । इसाई सभ्यता के अनुसार दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य स्त्री-पुरुषों को स्वयं करना होता है । इसलिये वे बहुतों में से एक को चुनते हैं । इस चुनाव कार्य में यदि कई-कई सम्बन्ध बनाने-बिंगाड़ने पड़ते हैं तो उस समाज के अनुसार यह कार्य कुछ भी अनुचित नहीं है । सन्तानोत्पादन का अभाव या वंश मर्यादा का नाश होने पर प्राचीन पुस्तकों में कुछ छूटें दी गई हैं जैसा कि महाभारत के कथनानुसार व्यासजी की वंश रक्षा के लिये परस्त्री गमन निषेध का अपवाद उपस्थित करना पड़ा था । यह छूटें समाज विभिन्नता, स्थिति विशेष और कारण विशेष के कारण कभी-कभी होती हैं और साधारणतः मनुष्य जाति का सुरक्षा का मार्ग यही है कि दाम्पत्य जीवन आदर्श हो और एक-दूसरे से सर्वथा सन्तुष्ट रहें ।

अफ्रीका की कुछ असभ्य जातियों में अब तक ऐसी रिवाज मौजूद हैं कि यदि किसी पुरुष की स्त्री की मृत्यु हो जाय तो उस पुरुष को भी स्त्री के साथ जला दिया जाता है । फिलीपाइन द्वीपों की एक जाति में ऐसा रिवाज थी कि विधुर पुरुष को कोई छूता नहीं वह जीवन भर मुँह पर कपड़ा ढाँके रहता है जिससे कोई उस पापी का मुँह न देखे । तिब्बत में मृत पत्नी के पति को फिर कोई स्त्री नहीं छूती, यहाँ तक कि माता और पुत्री भी उसे स्पर्श तक नहीं करती । दूसरी स्त्री का उसके साथ विवाह होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता । ठीक इसी प्रकार की प्रथा भारतवर्ष की सर्वांग कही जाने वाली जातियों में प्रचलित है जिसके अनुसार विधवा स्त्रियों को इसी दशा में रहना होता है जैसा कि अफ्रीका, तिब्बत और फिलीपाइन की कुछ असभ्य जातियों में पुरुषों को रहना पड़ता है । योगशास्त्र ऐसी रीति-रिवाजों को वर्तमान समय से बहुत पीछे की

समझता है। स्त्री-पुरुष वास्तव में दो स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं। एक-दूसरे को आगे बढ़ने के कार्य में सहायता दें, ईश्वर ने इस उद्देश्य से दो भिन्न लिंग पैदा किये हैं। वे एक स्वतन्त्र सहयोगी हैं, एक के न रहने से दूसरे का उन्नत क्रम रुद्ध कर दिया जाय। यह कोई मुनासिब बात नहीं है। संयम, ब्रह्मचर्य बड़ी सुन्दर वस्तुएँ हैं कोई व्यक्ति बाल ब्रह्मचारी रहे तो भी ठीक है, विध्वा या विधुर होने पर कामवासना को त्याग सके तो भी अच्छा है, परन्तु यह ऐच्छिक प्रश्न है। बलपूर्वक कराया गया संयम असल में कोई संयम नहीं है। इस प्रकार लोक-व्यवहार के दैनिक कार्यों में मित्रता, शत्रुता, विवाह बन्धन आदि के सम्बन्ध में धर्म-शास्त्र बहुत उदार है। वह मनुष्य जाति की एकता, अखण्डता, व्यापकता, समानता को स्वीकार करता है, भाई से भाई को जुदा करने की, मनुष्य को मनुष्य से अलग हटाने की रुद्धियों के संकुचित दायरे में बाँधने की, उन्नति के मार्ग में बाधा डालने की और आत्मिक स्वतन्त्रता में प्रतिबन्ध लगाने की धर्म कदापि इच्छा नहीं करता। आप धर्म को ग्रहण करिये और अधर्म के अज्ञान को कूद़े की तरह झाड़ से बुहार कर घर से बाहर फेंक दीजिये।

## धर्म-संकट

अनेक बार मनुष्य के जीवन में ऐसे अवसर उपस्थित होते हैं, जब वह धर्म-संकट में पड़ जाता है। सामने दो ऐसे मार्ग आ जाते हैं, जो दोनों ही असुचिकर होते हैं, उनमें से किसी को भी करने की इच्छा नहीं होती, फिर भी ऐसी परिस्थिति सामने होती है कि एक को किये बिना गुजारा नहीं-(१) एक ओर खाई दूसरी ओर खन्दक, (२) भई गति साँप छछूंदर केरी (३) मूँह में भरा गरम दूध न पीते बने न उगलते (४) मूसल निगलो या बृत्ति छोड़े, आदि अनेक कहावतें जन-समाज में प्रचलित हैं जो यह सूचित करती हैं कि ऐसी द्विविधाएँ अवसर सामने उपस्थित होती हैं और उनके हल ढूँडने में बुद्धि विचलित हो जाती है।

धर्मग्रन्थ, लोकमत, उदाहरण, अभिवचन और भावुकता के आधार पर कुछ निर्णय करते हुए मस्तिष्क चकरा जाता है। मान लीजिये कि एक सिंह गाँव में धूस आवे और ग्रामवासियों को खाने लगे, ऐसे समय में धर्म ग्रन्थ टटोलने पर परस्पर विरोधी मन्त्रव्य प्राप्त होते हैं। एक स्थान पर लिखा होगा कि—“किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये। सभी जीव ईश्वर के हैं, जिस प्राणी को हम बना नहीं सकते उसे मारने का हक नहीं है” दूसरे स्थान पर ऐसा लिखा होगा कि—आततायी को मार डालना चाहिए। दोनों ही व्यवस्थाएँ एक-दूसरे के विरोध में हैं, धर्मग्रन्थ के अवलम्बन करने पर जो धर्म-संकट उपस्थित हुआ उसका निराकरण हो सकना बहुत कठिन है। मित्रों से पूछा जाय तो वे अपनी विचार मर्यादा के अनुसार उत्तर देंगे। जैनी मित्र से पूछें तो कहेगा—चाहे जो होता रहे सिंह पर हाथ नहीं छोड़ना चाहिए। वेदान्ती

कहेगा—संसार मिथ्या है, स्वप्न समाज है, तुम तो देखते मात्र रहो। गीताधर्म वाला कहेगा—“कर्तव्य पालन करो, आतातायी को मारो, सिंह है या गाय इसकी विवेचना मत करो।” पीडित गाँववासी सिंह को अविलम्ब मार डालने की पुकार करेंगे। इस प्रकार लोकमत भी एक नहीं मिल सकता, कबूतर खाने में तरह-तरह की चिड़ियाँ अपनी-अपनी बोली बोलती हैं, किसकी बात बुरी कही जाय किसकी अच्छी? कोई वस्तु चाहे कितनी अच्छी क्यों न हो उसके सब लोग समर्थक नहीं हो सकते। स्वराज्य जैसे सर्वोपयोगी जीवन तत्व के भी विरोधी आज अनेक भारतीय दृष्टिगोचर होते हैं। कसाई के कुत्ते अपने टुकड़े से अधिक उत्तमता और किसी वस्तु में नहीं देख सकते। इस प्रकार लोकमत भी किसी बात का सर्वसम्पत्ति से समर्थन नहीं कर सकता, चाहे वह कितनी ही उत्तम हो, वैसे ही बुरी से बुरी बात का पक्ष लेने वाले लोग मिल जाते हैं। उदाहरण तो किसी भी बात के अनुकूल मिल सकते हैं। साधारण मनुष्यों की बात छोड़िये। बड़े से बड़े में बुराइयाँ ढूँढ़ी जा सकती हैं। ब्रह्माजी अपनी पुत्री पर आसक्त होकर उसके साथ बलात्कार करने को तैयार हो गये, चन्द्रमा गुरु पत्नी पर डिगा गया, इन्द्र का अहिल्या के साथ कुकर्म करना प्रसिद्ध है, विष्णु ने जालन्धर की स्त्री का छलपूर्वक पतिव्रत नष्ट किया, व्यासजी का मछुए की लड़की पर, विश्वामित्र का मेनका वेश्या पर आसक्त होने का वर्णन मिलता है। रामायण पढ़ने वालों ने नारद मोह की कथा पढ़ी होगी कि वे भक्ति-भाव छोड़कर किस प्रकार विवाह के लिए व्याकुल फिरे थे। राक्षसों का पक्ष समर्थ करने वाले एवं सहायक शुक्राचार्य और कौरवों के सहायक द्रौणाचार्य जैसे विद्वान् थे। बलि को वामन भगवान् ने छला, बालि को राम ने आड़ में छिपकर अनीतिपूर्वक मारा, इस प्रकार बड़े-बड़ों में जहाँ दोष हैं वहाँ अत्यन्त छोटी श्रेणी के व्यक्ति भी उच्चचरित्र का पालन करते देखे जाते हैं। इतिहास एक समुद्र है। इसमें हर बुरे-भले कार्य के पक्ष में तगड़े उदाहरण मिल सकते हैं, फिर इनमें से किसका अनुकरण किया जाय? दुर्भिक्ष में अन्न न मिलने पर प्राण जाने का संकट उपस्थित होने पर विश्वामित्र ने चाण्डाल के घर से मांस चुराकर खाया था और उपस्थि ने अन्त्यज के झूठे उड्ड खाकर प्राण रक्षा की थी, किन्तु विलोचन का ऐसा भी उदाहरण मौजूद है कि अभक्ष खाने का अवसर आने पर उसने प्राणों का परित्याग कर दिया था। इनमें से किसका पक्ष ठीक माना जाय किसका गलत? यह निर्णय करना साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति के लिये बहुत कठिन है। अभिवचनों का भी यही हाल है कि एक विद्वान् एक सिद्धान्त का प्रतिपादन बड़े प्रचण्ड तर्कों से करता है, किन्तु दूसरा उससे भी उग्र प्रमाणों द्वारा उस सिद्धान्त का खण्डन कर देता है। प्रजातन्त्र, कम्पूनिज्म, फासिज्म, पूँजीवाद, आदि के प्रतिपादन में जो तर्क आधार उपस्थित किये जाते हैं, उनके बीच में से सच्चाई ढूँढ़ निकालना साधारण प्रज्ञा का काम नहीं है। फिर भावुकता

## ३.१४ धर्म तत्त्व का दर्शन और मर्म

का तो कहना ही क्या। आँखों के सामने जो असाधारण अनुभूति करने वाले प्रसंग आते हैं, उनसे तरंगित होकर हृदय एक प्रवाह में बह जाता है और छोटी घटना को भी अत्यन्त महान समझकर उसके निराकरण में बड़े से बड़ा कार्य करने को तैयार हो जाता है। फिर चाहे उतने ही कार्य में अनेक गुने महत्त्वपूर्ण कार्य छूट जावें। साम्प्रदायिक दंगे हमारे देश में आये दिन होते हैं, इनकी तह में कोई बड़ी भारी जटिल पेचीदगी नहीं होती किन्तु भावुकता का प्रवाह होता है। मुसलमान सोचता है कि नमाज के समय बाजा बजाने से खुदाबन्द करीम की तौहीन होती है, हिन्दू सोचता है रामचन्द्रजी की बारात का बाजा बन्द हो जाना ईश्वर का अपमान है। दोनों पक्ष खुदा की तौहीन और ईश्वर का अपमान न होने देने के लिए छुरी कटार लेकर निकल पड़ते हैं और खून से पृथ्वी लाल कर देते हैं। तत्त्वः बाजे के कारण न तो ईश्वर का अपमान होता था और न खुदा की तौहीन। पर दोनों पक्ष अपनी-अपनी भावुकता के प्रवाह में बह गये और छोटी घटना को ऐसा बड़ा समझने लगे मानो यदि जीवन-मरण का प्रश्न है। यहीं भावुकता की उड़ान पर विवेक का नियन्त्रण होता तो वह रक्तपात होने से बच जाता। मुहम्मद गोरी अपनी सेना के आगे गायों का झुण्ड करके बढ़ा। पृथ्वीराज ने गौओं पर हथियार चलाने की अपेक्षा पराजय होने की भावुकता अपना ली। चन्द्र गायें उस समय बच गईं पर आज उसी के फलस्वरूप मिनट-मिनट पर सहस्रों गायों की गर्दन पर छुरी साफ हो रही है। ईद की कुर्बानी पर एक गाय को लेकर दंगा हो जाता है पर सूखे मौस के व्यापार में जो अगणित गौ-बध होता है उसकी ओर किसी की दृष्टि नहीं जाती। इस प्रकार भावुकता के प्रवाह में सामने वाली छोटी बातों को तूल मिल जाता है और पीछे-पीछे रहने वाली जीवन-मरण की समस्या जहाँ की तहाँ उपेक्षित पड़ी रहती है।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने यह बताने का प्रयत्न किया है कि धर्मग्रन्थ, लोकस्त, उदाहरण, अभिवचन और भावुकता के आधार पर धर्म-संकट का सही हल निकालने में बहुत ही कम सहायता मिलती है और गड़बड़ में पड़ जाने की आशंका अधिक रहती है। हो सकता है कि सामने वाले दो मार्गों में से छोटी बात बड़ी मालूम पड़े और बड़ी का महत्त्व छोटा समझ में आवे। जैसे बालक के फोड़ा निकल रहा है, उसे चिरवाना आवश्यक है। आपरेशन के चाकू को देखकर बालक भयभीत होकर करुण-क्रन्दन करता है, पिता की भावुकता उमड़ पड़ती है, वह बालक को अस्पताल से उठाकर यह कहता हुआ चल देता है—“इतना करुण-क्रन्दन मैं नहीं देख सकता।” घर आने पर फोड़ा बढ़ता है, सड़ने पर पैर गलकर नष्ट हो जाता है, बालक का जीवन निरर्थक हो जाता है। यहाँ तत्त्वज्ञानी की दृष्टि से पिता की भावुकता अनुचित रहती है, जिसके प्रवाह में वह आपरेशन के समय बह गया था। यदि उस समय उसने धैर्य, विवेक

और दूरदर्शिता से काम लिया होता तो बालक की जिन्दगी क्यों बबाद होती? पिता की सहदयता पर किसी को आक्षेप नहीं, उसने जो किया था अच्छी भावना से किया था पर भावुकता की मात्रा विवेक से अधिक बढ़ जाने के कारण वह उचित मार्ग से भटक गया और अनिष्टकर परिणाम उपस्थित करने का हेतु बन गया। जब पिता अस्पताल से बच्चे को उठाकर लाया था तब चाहता तो अनेक ऐसे सूत्र, लोकोक्ति, उदाहरण, तर्क इकट्ठे कर सकता था जो उसके कार्य का औचित्य सिद्ध करने ही के पक्ष में होते।

सामने एक भला मार्ग हो और दूसरा बुरा तो यह निर्णय आसान है कि इस मार्ग पर चलना उचित है। पर जब दोनों ही मार्ग बुरे हैं तो क्या किया जाय? यह निश्चित करना कठिन है। इसी प्रकार अच्छे दो मार्गों में से किसे चुना जाय यह भी पेचीदा प्रश्न है। इन पेचीदा मार्गों को धर्म-संकट कहते हैं।

अब उन धर्म-संकटों के बारे में विचार करना है, जो स्वयं अपनी निज की समस्याओं के सम्बन्ध में उपस्थित होते हैं, हम बड़े परिश्रम से पैसा कमाते हैं फिर उस पैसे से कपड़े बनवा लेते हैं, क्योंकि पैसे से कपड़ा अधिक लाभदायक है। शरीर को शीत धूप से बचाने के लिए कपड़े पहनते हैं, क्योंकि कपड़ों से शरीर-रक्षा अधिक मूल्यवान है। शरीर सुख के लिए अन्य मूल्यवान पदार्थों को खर्च कर देते हैं कारण यही है कि वे मूल्यवान पदार्थ शरीर सुख के मुकाबले में हेटे जाते हैं। लोग शरीर सुख की आराधना में लगे हुए हैं परन्तु एक बात भूल जाते हैं कि शरीर से भी ऊँची कोई वस्तु है। वस्तुतः आत्मा शरीर से ऊँची है। आत्मा के आनन्द के लिए शरीर या उसे प्राप्त होने वाले सभी सुख तुच्छ हैं। अपने दैनिक जीवन में पग-पग पर मनुष्य ‘बहुत के लिये थोड़े का त्याग’ नीति को अपनाता है, परन्तु अन्तिम स्थान पर आकर यह सारी चौकड़ी भूल जाता है। जैसे शरीर सुख के लिए पैसे का त्याग किया जाता है वैसे ही आत्म-सुख के लिए शरीर सुख का त्याग करने में लोग हिचकिचाते हैं, यही माया है।

पाठक इस बात को भली भाँति जानते हैं कि अन्याय, अनीति, स्वार्थ, अत्याचार, व्यभिचार, चोरी, हिंसा, छल, दम्भ, पाखण्ड, असत्य, अहंकार आदि से कोई व्यक्ति धन इकट्ठा कर सकता है, भोग पदार्थों का संचय कर सकता है, इन्द्रियों को कुछ क्षणों तक गुदगुदा सकता है परन्तु आत्म-सन्तोष प्राप्त नहीं कर सकता। इन पाप कर्मों का आध्यात्मिक प्रतिक्रिया से जो असह्य भार अन्तःकरण के ऊपर जमा होता है, उसमें बनी हुई आत्मा हर घड़ी कराहती रहती है और वेदना, उद्घानता एवं अशान्ति का अनुभव करती रहती है। पापी मनुष्य बाहर वालों को सुखी एवं भाग्यवान भले ही दिखाई पड़े परन्तु उसकी भीतरी स्थिति से परिचय रखने वाले जानते हैं कि वह गरीब और अभावग्रस्त लोगों की अपेक्षा बहुत ही नीची श्रेणी का

जीवन व्यतीत कर रहा है। सोते-जागते उसे घड़ी भर भी चैन नहीं, पाप वृत्तियाँ, पिशाचनियाँ उसके मन-मरघट में खून भरे खप्पर पी-पीकर नाचती हैं और उस ताण्डव नृत्य को देख-देखकर पाप पीड़ित व्यक्ति की धिंधी बँध आती है। अपने रचे हुए कुभीपाक नरक में वह स्वयं ही बिलबिलाता है। अपनी खोदी हुई बैतरणी में वह स्वयं ही इूबता-उतरता रहता है। अशान्ति, हाहाकार, चिन्ता, व्याकुलता, उद्विग्नता बस यही उसका परिवार होता है। उन्हीं के बीच में वह जीवन को घुला देता है। आत्म-सन्तोष, आत्म-आनन्द को वह अभागा जान भी नहीं पाता।

पाप कर्म मनुष्य योनि को उपयुक्त नहीं वरन् श्वान, सिंह, सर्प आदि नीच योनि वाले जीवों का आहार है। मानव अन्तः-करण पाप कर्मों से प्रफुल्लित नहीं होता वरन् दिन-दिन दुःखी, दुर्बल होता जाता है। उसका स्वाभाविक भोजन वे आचार-विचार हैं जिन्हें सात्त्विक, पुण्यमय, निष्पाप, पवित्र एवं परमार्थ कहते हैं इसी आहार से आत्मा की भूख बुझती है और बल प्राप्त करके वह अपनी महान यात्रा को आगे बढ़ाता है।

एक ओर पाप कर्मों द्वारा शरीर सुखों की प्राप्ति होती है, दूसरी ओर मनुष्य कर्मों द्वारा आत्म-सुख का लाभ होता है। विवेक बुद्धि कहती है 'बहुत के लिये थोड़े का त्याग करो।' नाशवान शरीर की क्षणिक लालसाओं को तृप्त करने की अपेक्षा स्थायी, अनन्त, सच्चे आत्म-सुख को प्राप्त करो। शरीर को भले ही कष्टों की स्थिति में रहना पड़े परन्तु सद्प्रवृत्तियों द्वारा प्राप्त होने वाले सच्चे सुख को हाथ से मत जाने दो। ठीकरी को छोड़ो और अशर्फों को ग्रहण करो "बहुत के लिये थोड़े का त्याग करो।"

## बहुत के लिये थोड़े का त्याग

द्विविधा पूर्ण गुरुथी को सुलझाने के लिये "बहुत के लिये थोड़े का त्याग" की नीति बहुत ही उपयुक्त है। किसान जब बीज बोता है तो फसल पर विशाल अन्न राशि प्राप्ति करने की इच्छा से घर में रखा हुआ अन्न खेत में बखेर देता है। व्यापारी अपना कारोबार आरम्भ करता है, लाभ की आशा से नकद पूँजी को माल-असबाब में फँसा देता है, महाजन सूद की आशा से अपना रुपया कर्जदार को दे देता है। कारण यह है कि हर एक बुद्धिमान व्यक्ति इस नीति से भली प्रकार परिचित है कि अधिक लाभ के लिये थोड़ी जोखिम उठाना भी आवश्यक है। बीमार होने पर सोने-चाँदी के जेवर बेचकर भी दवादार कराई जाती है, यद्यपि सोना-चाँदी प्रिय वस्तुएँ हैं तो भी जिन्दगी के मुकाबले में उनका मूल्य कम है, इसलिए अधिक मूल्य की वस्तु के लिये कम मूल्यवान वस्तु खर्च कर दी जाती है। नामबरी के कार्यों में, धर्म-कार्यों में, गाढ़ी कमाई का पैसा खर्च कर दिया जाता है क्योंकि यश से, पुण्य कर्म से मन को जो आनन्द मिलता है, वह पैसा जमा करने के आनन्द की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होता

है। धाव में कीड़े पड़ गये हैं। डॉक्टर देखता है कि यदि कीड़े जीवित रहेंगे तो रोगी मर जायेगा। उसके सामने धर्म संकट आता है कि कीड़ों को मर दूँ या रोगी को मरने दूँ? बुद्धि कहती है कीड़ों की अपेक्षा संसार के लिये मनुष्य अधिक उपयोगी है, डॉक्टर धाव पर विषेती दवा लगाता है। बच्चे के पाँव में काँटा घुस गया है, निकालने के लिए उस स्थान को छूते ही बालक दर्द के मारे चिल्लता है। माता सोचती है निकालने में इसको कष्ट होता है पर यदि काँटा लगा रहेगा तो कष्ट की मात्रा अनेक गुनी बढ़ जायेगी इसलिए वह जबरदस्ती करती है, बच्चे के हाथ-पाँव पकड़कर काँटा निकालती है, बच्चा चीखता-चिल्लता है पर वह तो निकाल कर ही मानेगी कारण यह है कि माता का विवेक उससे कहता है कि बड़े कष्ट का निवारण करने के लिए छोटा कष्ट देने में कोई हर्ज नहीं है। समाज के लिए हानि पहुँचाने वाले हिंसक, हत्यारे, डाकू लोग अदालत द्वारा मृत्यु-दण्ड पाते हैं। एक आदमी की जान जा रही है पर उससे असंख्य व्यक्तियों की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कठिनाई का निवारण होता है। अतएव जज उस हिंसा की परवाह नहीं करता जो मृत्युदण्ड देने में होती है। बहुत के लाभ के लिए थोड़ी हानि भी उठाई जा सकती है।

त्यागी, साधु पुरुष अन्य लोगों को सुखी बनाने के लिए अपना जीवन अर्पण कर देते हैं, वे स्वयं कष्टपूर्वक निर्वाह करते हुए भी अन्य लोगों को सुखी बनाने का प्रयत्न करते हैं। क्योंकि वे समझते हैं कि हमारे अकेले के कष्ट से यदि अनेक प्राणियों को सुख मिलता है तो वही अधिक लाभ है। वीर क्षत्राणियाँ अपने पतियों को युद्ध-भूमि में प्रसन्नतापूर्वक भेज देती हैं और वैधव्य को स्वीकार कर लेती हैं, क्योंकि सुहाग सुख की अपेक्षा कर्तव्य को वे ऊँचा मानती हैं। सतीसाध्वी महिलाएँ सतीत्व की रक्षा के लिए प्राणों पर खेल जाती हैं, उनका विश्वास होता है कि शरीर की अपेक्षा सतीत्व का महत्व अधिक है। श्रेष्ठ पुरुष अपमान की जिन्दगी से आबरू की मौत पसन्द करते हैं क्योंकि वे जिन्दगी से आबरू को बड़ा मानते हैं।

दर्शनिक हीगल ने अपने ग्रन्थों में धर्म की व्याख्या करते हुए "अधिक लोगों के अधिक लाभ" को प्रधानता दी है। जिस काम के करने से समाज की सुख-शान्ति में वृद्धि होती हो उसके लिए थोड़े लोगों को कुछ कष्ट भी दिया जा सकता है। करोड़ों गरीबों को भोजन देने के लिए यदि पूँजीवादी व्यवस्था बदलनी पड़े और उससे थोड़े पूँजीपतियों को कुछ कष्ट होता हो तो वह सहन करना पड़ेगा। पशु-बध बन्द होने से कसाई के कुत्तों को भूखा रहना पड़े तो उसे बर्दास्त कर लिया जायेगा। बड़े कष्ट का निवारण करने के लिए छोटा कष्ट देना पड़े तो वह एक सीमा तक क्षम्य है। एक मनुष्य भूखा मर रहा हो और दूसरा आवश्यकता से अधिक भोजन लादे फिरता हो तो भूखे की प्राण रक्षा के लिए दूसरे से थोड़ा अन्न बलपूर्वक छीन करके भी दिया जा सकता है।